

राजानक क्षेमराज कृत  
**प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**



ईश्वर आश्रम ट्रस्ट





# प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

राजानक क्षेमराज कृत 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' की विस्तृत भूमिका  
तथा टिप्पणियों सहित अनुवाद

पृष्ठांशुनाम्यभो

गणनकेभग्न

कृत

गेग इग्निमउंप्रुलः मगीरं  
क्रमादघैपुत्रिन्दिनं पृष्ठांशुमितुभां ।  
मठुस्तुन्डिति मद्कलधनमिनानि  
उभांदुभां मगलं भमप्रीनर्हो ॥

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

Published by;  
Ishwar Ashram Trust,  
Plot No. R-5, Pocket D,  
Sarita Vihar, New Delhi-110076

Website: [www.ishwarashramtrust.com](http://www.ishwarashramtrust.com)

Email: [iatishber@rediffmail.com](mailto:iatishber@rediffmail.com)

Second Edition; Delhi, 2017

Copyright: Ishwar Ashram Trust, 2017

ISBN 81-88194-11-5

All rights reserved. No part of this book may be used or reproduced in any manner whatsoever without any permission. No part of this book may be stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means including electronic, electrostatic, magnetic tape, mechanical, photocopying, scanning, recording or otherwise without the prior permission in writing of the publisher.

Printed By: PRNT Source Glaziers Pvt Ltd, New Delhi -110053

Price: ₹ 250/-



शैवाचार्य स्वामी लक्ष्मण जू

मैवामाद् भुभी लक्ष्मण



*Ramdas*  
14/01/18

## प्रत्यभिज्ञाहृदयमः प्रस्तुत संस्करण

श्री राजानक क्षेमराज (१०वीं-११वीं शताब्दी) विरचित प्रत्यभिज्ञाहृदय ग्रन्थ अपनी आकृति में प्रकरण ग्रन्थ है और प्रकृति में आकर-ग्रन्थ। इसमें क्षेमराज ने केवल बीस सूत्रों में 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन के समग्र विस्तार को समाहित कर लिया है और ग्रंथ के आरंभ में की गयी अपनी प्रतिज्ञा एवं ग्रंथ-प्रयोजन दोनों को ही चरितार्थ कर दिया है-

शांकरोपनिषत्सार प्रत्यभिज्ञामहोदधेः।  
क्षेमेणोद्धित्यते सारः संसारविपशान्तये॥

श्री क्षेमराज का यह विलक्षण सामर्थ्य उनकी अपनी वैयक्तिक साधना एवं उनके परमपूज्य गुरुदेव श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के आशीर्वाद से संबलित है। ग्रंथ के उपसंहार में अपने गुरु का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है -

कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः  
श्रीमतोराजानकक्षेमराजाचार्यस्य।

शैव-शास्त्र में प्रवेश करने तथा उसकी दार्शनिक एवं साधना-परम्पराओं का सम्यक बोध करने में प्रस्तुत ग्रंथ का संभवतः कोई विकल्प नहीं है। यह ग्रंथ अपने शीर्षक को कई अर्थों में चरितार्थ करता है। यह प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का सार-तत्त्व है, इसलिए 'हृदय' रूप है। 'हृदय' की भाँति ही यह अपने प्रथम दस सूत्रों में चिति के संकोच तथा शेष सूत्रों में उसके विस्तार का वर्णन करता है। 'हृदय' शैव-दर्शन का पारिभाषिक शब्द है: हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते। तच्चोकनीव्य जडानां चेतनम्। तस्यापि प्रकाशात्मत्वं, तस्यापि विमर्शशक्तिः। (ईश्वरप्रयभिज्ञाविमशिनी) प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के कई संस्करण, अनुवाद और व्याख्या सहित, आजकल उपलब्ध हैं। प्रस्तुत संस्करण का वैशिष्ट्य दो कारणों से है - एक तो इसकी भाषा-टीकाकार श्रीमती कमला देवी बाबा को आधुनिक समय के सबसे बड़े प्रमाणभूत साधक शैवाचार्य स्वामी श्री लक्ष्मण जू का शिष्यत्व प्राप्त है और दूसरा इस ग्रंथ के साधना-पक्ष को व्याख्यायित करने में साधिका लेखिका की प्राणवन्त स्वानुभूति भी एक

आवश्यक साधन के रूप में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है। स्वयं स्वामी जी अनुशंसा और आशीर्वचन से प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व स्वतः ही बढ़ जाता है।

श्रीमती कमला बाबा जी की यह भाषा-टीका १६७३ में प्रकाशित हुई थी। पिछले कई दशकों से यह संस्करण अप्राप्य था। ईश्वर आश्रम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित इस नवीन संस्करण के कतिपय विशिष्ट बिंदु निम्नलिखित हैं:

- क) पूर्व पाठ की मुद्रण की भूलों को यथासंभव दूर कर दिया गया है।
- ख) संस्कृत उद्धरणों के मूल संदर्भ दे दिये गए हैं।
- ग) कई स्थानों पर हिन्दी-वाक्य विन्यास को हिन्दी-व्याकरण सम्मत विन्यास दे दिया गया है, लेकिन जो वाक्य लेखिका की निजता और शैली के ज्ञापक हैं, उन्हें यथावत् रहने दिया गया है।
- घ) संस्कृत के पाठ को भी यथासंभव व्याकरण सम्मत रखा गया है।
- ड) अर्थ और आशय की स्पष्टता के लिए कहीं-कहीं कुछ पदबंध एवं वाक्यांश जोड़ दिये गए हैं।

शैवदर्शन प्रमातृनिष्ठ, सौन्दर्यमूलक एवं स्वाधीन चैतन्य का अद्वयवादी दर्शन है। स्वाधीन चैतन्य ही आनन्द से उल्लसित रहता है। इस दर्शन में प्रतिष्ठित 'अद्वैत' या 'अद्वय' 'एकरसता' का नहीं 'समरसता' का वाचक है। प्रत्यभिज्ञा के महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' के शब्दों में-

समरस थे जड़ या चेतन  
सुन्दर साकार बना था,  
चेतनता एक विलसती  
आनन्द अखण्ड घना था।  
(कामायनी\*: आनन्द, १६१६)

---

\*१६७३ प्रकाशन वर्ष

प्रत्यर्थज्ञाहदम् का यह नूतन संस्करण भी पूर्व संस्करण की भाँति स्वीकृत होगा,  
इसी विश्वास के साथ -

महादेवाय रूद्राय शङ्काय शिवाय ते।

महेश्वरायापि नमः कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये॥

( श्री उत्पलदेयः शिवस्तोत्रवली 2.4)

संकष्टी गणेशचतुर्थी

१३ मई, २०१७

रजलीश मिश्र

सहन-आचार्य

विशिष्ट संस्कृत अध्ययनत केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली - ११००६७

## आशीर्वाद

शैव-शास्त्र चार शाखाओं में विभक्त हुए हैं। स्पन्द-शास्त्र, कौल-शास्त्र, क्रम-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। इन चार शाखाओं में प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की शाखा गम्भीर और महत्वपूर्ण शाखा है। इसका समझना साधारण व्यक्ति की शक्ति से बाहर है। आचार्य अभिनवगुप्त जी के प्रधान शिष्य श्री क्षेमराज आचार्य ने इस उत्तमोत्तम और गम्भीर प्रत्यभिज्ञा दर्शन को साधारण भक्तजनों की सुविधा के लिए 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' नाम वाले ग्रन्थ की रचना की। यही 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' आज जनता के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है : जिस शास्त्र को और भी सुविधा के लिए मेरी सच्छिद्या कमला देवी बाबा ने सरल रीति से इसकी भाषा-टीका लिख कर विभूषित किया है।

मुझे पूरी आशा है कि इस भाषा-टीका का अवलोकन करने से जनता को पर्याप्त मात्रा में लाभ होगा और जनता इस शास्त्र के गूढ़ मर्मस्थानों को समझ जायेगी।

इस भाषा-टीका को निभाने के लिए मैं कमला देवी को भी आशीर्वाद देता हूँ कि भविष्य में भी वे और शैव-सम्प्रदाय के शास्त्रों के रहस्यमय मर्मों का उद्घाटन करेंगी जिससे जनता को और भी लाभ प्राप्त होगा।

ओम् शान्तिः।

- स्वामी लक्ष्मण जू  
ईश्वर आश्रम,  
गुप्त गंगा, काश्मीर

२५ दिसम्बर  
ई. १९७३

*Preface*

## आमुख

श्री सोमानन्द कृत शिवदृष्टि शास्त्र के आधार पर श्री सोमानन्द के शिष्य श्री उत्पलदेव आचार्य ने श्री प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का निर्माण किया है। इस शास्त्र का स्थान भारतीय दर्शन व संस्कृति में विशेष है। श्री अधिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या की। परन्तु वह अति गूढ़ होने से साधारण जनता के लिए पूर्णतया लाभदायक न हो सकी। इसका अधिक लाभ केवल पंडित वर्ग तक ही सीमित रहा। इसके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य राजानक क्षेमराज ने केवल 20 सूत्रों को, जो कि अन्य ग्रन्थों में शक्तिसूत्र के नाम से कहे गये हैं, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के नाम से प्रस्तुत करके उनकी व्याख्या की। इससे बहुत हद तक समस्या का समाधान हो गया।

कश्मीर में मेरे गुरुदेव पूज्य राजानक योगीराज लक्ष्मणजू, गुरु परम्परा से शैव शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता और शैव दर्शनों के एकमात्र प्रवक्ता व अनुभवी हैं। मुझे प्रत्यभिज्ञा हृदय को साधारण जनता के लिये इसका अनुवाद व व्याख्या करने की मूक प्रेरणा उनके चरणों में बैठ कर ही हुई। मेरे में तो कोई विद्वत्ता इस कार्य को पूर्ण करने की न थी परन्तु श्री गुरुदेव की असीम कृपा से इस भेंट को साधारण जनता के लिये सरल हिन्दी में प्रस्तुत कर सकी हूँ। इस सब का श्रेय मेरे पूज्य गुरुदेव को ही है और उनके पुनीत चरणों में मैं इसको सविनय समर्पण करती हूँ।

विद्वत् समाज तो इस शास्त्र से अनभिज्ञ नहीं है। परन्तु मुझे विश्वास है कि साधारण जनता भी मेरी इस कृति से अवश्यमेव लाभान्वित होगी।

काशी निवासी आचार्य पंडित रामेश्वर ज्ञा शैव शास्त्र के प्रसिद्ध पंडित हैं। उन्होंने कृपा करके मेरी लिपि का निरीक्षण किया है। मैं उनकी आभारी हूँ।

डॉ. डी.बी. सेन, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, जिन्होंने मुझे विद्वत्तापूर्ण सुझाव दिये हैं और प्रस्तावना भी लिखी है, उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

- कमला बाबा

१. डल व्यू, निशात

पो. - ब्रेन, श्रीनगर ( काश्मीर )

२. ६/२६, इंस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली - ११०००८

## Foreword

### प्राकथन

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से दर्शन और धर्म का अविच्छेद सम्बन्ध रहा है। जैसा कि दर्शन शब्द के व्युत्पत्तिलघ्य अर्थ से स्पष्ट है, भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य तत्त्व ज्ञान नहीं, तत्त्व साक्षात्कार कराना है। तत्त्वज्ञान तत्त्वसाक्षात्कार का ही फल है : मनुष्य बुद्धिजीवी होने के नाते तत्त्व के स्वरूप का बुद्धिपूर्वक अवबोध या तत्त्वज्ञान उसके बौद्धिक सन्तोष के लिये आवश्यक है लेकिन तत्त्वज्ञान मात्र से तत्त्वज्ञानसा शान्त नहीं होती। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में जहाँ एक ओर तत्त्व के स्वरूप का वर्णन और उसकी युक्तिपूर्वक स्थापना की गयी है, वहाँ तत्त्वसाक्षात्कार के मार्ग का भी निर्देश किया गया है। कोई भी साधक उस मार्ग का अनुसरण कर तत्त्वसाक्षात्कारपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह विशेषता प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में पायी जाती है।

भारतीय दर्शन निगम और आगम इन दो धाराओं में प्रवाहित हुए हैं। निगम या वेद से आविर्भूत षड्दर्शन से सभी परिचित हैं। आगम धारा के अन्तर्गत शैव, शाक्त और वैष्णव दर्शनों को माना जाता है। यद्यपि इन सभी दार्शनिक प्रस्थानों का अभ्युदय ईसा से कई शताब्दी पहले हुआ था लेकिन इनका विकसित रूप बहुत बाद में प्राप्त होता है। शैव और वैष्णव विचारधारा अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित हुई है इसे तो अनेक ऐतिहासिकों तथा विद्वानों ने स्वीकार किया है। देश और काल के प्रभाव से शैव धारा आठ शाखाओं में विभाजित हो गयी। इन शाखाओं में उत्तर भारत में काश्मीर की त्रिकधारा जिसे काश्मीर शैवमत (Kashmir Saivism) प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि की संज्ञा दी जाती है, और दक्षिण भारत में शैवसिद्धान्त तथा वीर शैवधारा सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय है।

काश्मीर में त्रिकधारा के प्रवर्तक वसुगुप्त को माना गया है जिन्होंने शिवसूत्रों को प्राप्त कर एक नवीन दार्शनिक विचारधारा को जन्म दिया। उनके उपरान्त इस मत के पोषक अनेक आचार्य हुए जिनमें सिद्ध सोमानन्द, कल्लट, उत्पलभट्ट, रामकण्ठ, उत्पल वैष्णव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, योगराज आदि का नाम लिया जा सकता है। इन शैवाचार्यों ने प्रचुरमात्रा में साहित्य का सृजन कर इस धारा को परिपुष्ट किया।

<i>Rasugupt Siddh Somanand Kalat Utpaldev Acharya Rama Kanth Utpal Vaishnav</i>	<i>Ashinvar (Inpt) Khem Raj Yogi Raf</i>
---	--

क्षेमराज द्वारा रचित कुल 10 ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं जिनमें कुछ मौलिक ग्रन्थ और कुछ व्याख्या ग्रन्थ या टीका के रूप में हैं। मौलिक रचनाओं में प्रत्यभिज्ञाहृदय, पराप्रवेशिका आदि उल्लेखनीय है।

क्षेमराज ने, जो कि इस परम्परा के मूर्धन्य आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे और जिनका समय 11 शताब्दी ईसवी निश्चित किया गया है, प्रत्यभिज्ञाहृदय में न केवल त्रिक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया है अपितु इस शास्त्र द्वारा मान्य योगसाधना पर भी प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ वैसे तो लघुकाय है, इसमें केवल 20 सूत्र ही हैं जिनकी व्याख्या क्षेमराज ने स्वयं की है, लेकिन त्रिक साधना काल का वर्णन प्रस्तुत करने के कारण कुछ दुर्बोध्य सा हो गया है। इसमें जिस साधना की धारा का वर्णन आया है वह एक विशेष प्रकार की साधना की धारा है जिसके रहस्य को एक साधक ही ठीक तरह से समझ सकता है।

इस ग्रन्थ के अभी तक तीन संस्करण उपलब्ध हुए हैं। मूल ग्रन्थ का सर्वप्रथम जर्मन भाषा में डा. वेरर ने अनुवाद किया था जिसको डा. कुर्ट एफ लार्ड डेकर ने अंग्रेजी में रूपान्तर कर अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित किया। कुछ दिन पहले ठाकुर जयदेवसिंह ने इसका एक अंग्रेजी संस्करण चौखम्बा से प्रस्तुत किया है। वर्तमान संस्करण जिसके देखने का सौभाग्य मुझे मिला, मैं लेखिका ने गुरु परम्परा से प्राप्त तथ्यों और अपने व्यक्तिगत अनुभूतियों के आधार पर इस ग्रन्थ की व्याख्या हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य साधारण जिज्ञासु पाठक को इन शास्त्र से परिचित कर उसमें इस धारा के प्रति रुचि उत्पन्न करना है लेकिन लेखिका ने साधना से सम्बद्ध रहस्यावृत अनेक स्थलों की सरल भाषा में पहली बार व्याख्या करने का स्तुत्य प्रयास किया है। मुझे पूरा विश्वास है कि अपनी अनुभूतियों के आधार पर साधना विषयक जटिल ग्रन्थियों के सफलतापूर्वक खोलने में समर्थ होने के कारण यह ग्रन्थ जनसाधारण द्वारा, साधना में रुचि रखने वाले पाठकों द्वारा विशेषतया समादृत होगा।

- देवब्रत सेन  
एम. ए., पीएच. डी.

## Introduction

### भूमिका

शैवधर्म संसार के प्रचीन धर्मों में से एक है। इसकी कई शाखाएँ संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली हैं। भारत में इसके चार प्रधान सम्प्रदाय प्रचलित हैं- राजस्थान में पाशुपत शैव, तामिलनाडू में सिद्धान्त शैव, दक्षिण कर्णाटक में वीर शैव और कश्मीर में अद्वैत शैव। इन चारों में कुछ समानता है। परन्तु भेद भी बहुत हैं। यहाँ हमको कश्मीर के अद्वैत शैव दर्शन का ही उल्लेख वाञ्छनीय है। भारत धार्मिक स्थिति में इतना उन्नत है कि यहाँ धार्मिक सिद्धान्त केवल सिद्धान्त ही नहीं परन्तु मानुषिक जीवन का अंग है। यों तो यह सिद्धान्त परम्परा से ही प्रचलित है और इसका अनुसरण करके भक्तजन परमपद को प्राप्त हुए हैं, परन्तु समय बीतने पर इस का क्रियात्मक रूप केवल मौखिक सिद्धान्त मात्र रह गया और इसका दार्शनिक भाग प्रायः लुप्त हो गया। लगभग इसा की आठवीं शताब्दी में कश्मीर के शैव सिद्धों को आगम शास्त्रों की प्राप्ति हुई। उन आगमों में से ही एक प्रधान आगम वसुगुप्त का शिवसूत्र है। तदनन्तर नवीं शताब्दी में आचार्य श्री सोमानन्द ही पहले पहल इस सिद्धान्त को पूर्णतया लिखित रूप में लाए। इसके पश्चात् इस पर और पुस्तकों भी लिखी गई। यह क्रम चार शताब्दियों तक ठीक चलता रहा और इतना साहित्य एकत्रित हो गया कि आजीवन स्वाध्याय के लिये पर्याप्त रहा। कुछ पुस्तकों अभी तक भी प्रकाशित नहीं हो सकीं।

अद्वैत शैव साहित्य तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(१) आगम शास्त्र, (२) स्पन्द शास्त्र, (३) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र।

### 9. आगमशास्त्र

यह ईश्वरीय काश्मीर शैवदर्शन में ईश्वर शब्द शिव का वाचक है। माने गए हैं और गुरु से शिष्य को मौखिक रूप में दिए गए माने जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध शास्त्र इस श्रेणी के यह हैं- मालिनीविजय, स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, मृगेन्द्र, रुद्रयामल, शिवसूत्र, शिवसूत्र पर वृत्ति, भास्कर और वरदराज लिखित वार्तिक और क्षेमराज लिखित शिवसूत्रों पर व्याख्या। कुछ तन्त्रों पर टीका भी उपलब्ध है।

## २. स्पन्दशास्त्र

इसमें अद्वैत दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है। मुख्य पुस्तकों इसमें यह हैं-

स्पन्दसूत्र अथवा स्पन्दकारिका- इन पर भिन्न-भिन्न टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। श्री रामकण्ठ लिखित विवृति, श्री उत्पलदेव वैष्णव लिखित प्रदीपिका, श्री क्षेमराज लिखित स्पन्दसन्दोह और स्पन्दनिर्णय।

## ३. प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

इसमें युक्ति और तर्क वितर्क द्वारा मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त दर्शाये गए हैं। मुख्य पुस्तकों यह हैं।

श्री सोमानन्द रचित शिवदृष्टि। एक और विशेष पुस्तक भी उत्पलदेवरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा है। श्री उत्पलदेव श्री सोमानन्द के शिष्य थे। उनकी निम्न टीकाएँ भी मिलती हैं- लेखक लिखित वृत्ति, श्री अभिनवगुप्त लिखित प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी व प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सार भूत श्री क्षेमराजकृत प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

## ४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

यह ग्रन्थ उक्त प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का एक लध्वाकार ही है जिसकी रचना श्री अभिनवगुप्त के मुख्य व तीव्रबुद्धि शिष्य श्री क्षेमराज ने की है। उनकी विशेष रूप से जीवनी तो कहीं मिलती नहीं। जो उल्लेख मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे श्री अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्यों में से थे। श्री अभिनवगुप्त अपने समय के संस्कृत के धुरन्धर पंडित विशेषतया तन्त्र, योग, दर्शन, नाटक इत्यादि में मान्य थे। डा. के. सी. पाण्डेय के अनुसार वे द्विंशती शताब्दी में प्रसिद्ध थे तदनुसार यह भी कहा जा सकता है कि श्री क्षेमराज भी उनके प्रमुख शिष्य होने के कारण उसी शताब्दी में ही हुए हैं। इन्होंने निम्न ग्रन्थ लिखे हैं-

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

प्रत्यभिज्ञा - Recognition  
or Action gyan  
or Knowing (knowledge)

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत,  
शिवसूत्र-विमर्शिनी, विज्ञान-भैरवोद्योत, स्तवचिन्तामणि टीका, पराप्रवेशिका,  
षट्क्रिशत्त्वसन्दोह आदि।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् को अद्वैत शैव साहित्य में वही स्थान दिया गया है जो वेदान्तसार को वेदान्त साहित्य में है। श्री क्षेमराज ने लोकोपकारार्थ पूर्णतया प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या इस पुस्तक में करके प्रसिद्धि प्राप्त की है। यह ग्रन्थ उन भक्तों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है जो कि तर्क व साहित्यिक ज्ञान के प्रभाव से श्री उत्पलाचार्य कृत ईश्वर प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को समझने में असमर्थ हैं परन्तु परमपद के लाभ के इच्छुक हैं। अथवा शक्तिपात्र से युक्त हैं। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है-Recognition- पहचानना-आत्मज्ञान। जीव अपने को भूल जाता है और मानसिक व दैहिक ढांचे के साथ अपने आपको एक रूप समझ लेता है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् उसको पुनः अपने शिवत्व को पहचानने की युक्ति बतलाता है ताकि आध्यात्मिक स्थिति के ज्ञान को प्राप्त कर जीव शिव रूप हो जावे। इस सिद्धान्त प्रणाली को पाँच भागों में विभक्त किया गया है-

- १- परमतत्त्व २- विश्व अथवा सृष्टिक्रम ३- जीव ४- बन्धन  
५- मुक्ति।

## १. परम तत्त्व

परमतत्त्व-परमपद-परसंवित् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। शुद्ध अन्तर्मुख भावरूप जो विश्राम है। वही परम अनुत्तर धाम है। वह पूर्ण विमर्शस्वभाव और महाविश्रान्ति पद है। वही तुर्यातीत परम तत्त्व है।

(and) that अहन्ता guess this  
इदन्ता प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अनुसार यह प्रकाश-विमर्शमय है। इसमें अहन्ता व इदन्ता का भेद नहीं है। यह अहन्ता व इदन्ता की एकता ही है। जीव परम शिव ही है वह केवल प्रकाशमय ही नहीं है विमर्शमय भी है। शैव दर्शन में कहा है कि शिव प्रकाश रूप है तथा स्पन्द रहित है। शक्ति के संयोग से ही उमें स्पन्द की उत्पत्ति होती है। जब प्रकाशात्मक शिव के साथ शक्ति का तादात्म्य होता है वही संवित् कहलाती है।

This ← ← ← That  
← ← ← "that" becomes "this" when  
the distance is reduced to zero.

शक्तिहीन प्रकाश को स्वतन्त्रता के अभाव से महेश्वर नहीं कहा जा सकता। शिव और परमशिव में यही भेद है कि शिव शक्तिहीन होने के कारण जड़वत् है तथा विश्वोत्तीर्ण है किन्तु शक्ति के संयोग से वही शिव परम शिव नाम से कहा जाता है इस स्थिति में यह विश्वोत्तीर्ण होने पर विश्वात्मक भी है। इसी को अनुत्तर भी कहा है।

## २. विश्व-सृष्टिक्रम

परमतत्व-चेतनता-अथवा चिति निरर्थक शब्द नहीं है। इसमें अनन्त शक्तियाँ हैं और जगत रूप में प्रकट होना इसका स्वभाव ही है। यदि यह भिन्न-भिन्न आकारों में प्रकट न हो तो चिति ही न रहे किन्तु एक जड़ पदार्थ का नाई हो जावे। तन्त्र में यह भी कहा है कि परम तत्व भिन्न-भिन्न आकारों में प्रकट न हो तो और अपने एकाकीपन में स्थित न रहे तो वह घट के समान हो जावेगा। ऊपर लिखा है कि परम शिव प्रकाश विमर्शमय है इसमें अहन्ता व इदन्ता का भेद नहीं है। अहन्ता प्रकाश रूप है और इदन्ता चेतन है-विमर्श स्वातन्त्र्य रूप है अथवा पूर्ण शक्ति रूप है। इसी शक्ति का दूसरा नाम चिति है अथवा पराशक्ति है। परम शिव की शक्तियाँ अनन्त हैं किन्तु निम्न पाँच शक्तियाँ प्रमुख हैं-

१-चित् २-आनन्द ३-इच्छा ४-ज्ञान ५-क्रिया ।।

चित् और आनन्द शक्तियाँ ही वस्तुतः शिव का स्वरूप हैं तथा अन्य तीन शक्तियाँ शक्ति के अन्तर्गत हैं।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ बहिरंग के रूप में कही जाती हैं।

## ३. जीव

जीव केवल मानस-भौतिक शरीर ही नहीं परन्तु कुछ इसके अतिरिक्त भी है। भौतिक शरीर तो केवल पाँच भूतों से बनता है। इसे स्थूल शरीर कहा जाता है। इसका मानसिक ढाँचा अन्तः करण कहलाता है जो मन, बुद्धि, अहंकार से निर्मित है। यह तीन और पाँच तन्मात्र मिलकर पुर्यष्टक कहलाता है यही सूक्ष्म शरीर के नाम से कथित है। इसी में जीव रहता है और इसमें प्राण शक्ति भी अपना कार्य

करती है। यह ही ईश्वरीय शक्ति जीव और विश्व में स्थित है। इसके आधार पर सब कार्य चलता है और सब के मध्य में जीव रूप में यही स्थित है जो कि आणवमल के आवरण वश शिव होते हुए भी अणु रूप में सीमित रहता है। आणव मल की उत्पत्ति परम शिव द्वारा आत्मसंकोच करने से होती है, जिसे निग्रह कहा गया है।

## ४. बन्धन

आणव मल के आवरण वश अपनी आत्मविस्मृति के कारण ही जीव 'बन्धन' से युक्त होता है। परम शिव की इच्छा शक्ति के सीमित होने पर ही ऐसा होता है। इस भ्रम से युक्त जीव अपने आप को शिव नहीं मानता है और मायीयमल तथा कार्ममल से आवृत होकर जीव अपने को शिव से भिन्न समझने लगता है और आवागमन के चक्र में भटकने लगता है।

## ५. मुक्ति

मुक्ति का वास्तविक अर्थ है उक्त मल-रूप आवरणों को हटाना अथवा अकृत्रिम अहं विमर्श को पुनः स्मरण में लाना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा है कि शुद्ध अहम् चेतनता विकल्प का स्वरूप नहीं है क्योंकि विकल्प में अन्य की भी आवश्यकता होती है। साधारण अहन्ता अन्य से सम्बन्धित है। परन्तु आत्म चेतनता किसी भी अन्य का अपोहन नहीं करती है। जब चेतनता होती है तो अकृत्रिम स्वभाव की चेतनता होती है और यही मुक्ति है। मुक्ति स्वात्मचेतनता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आत्मचेतनता अथवा अहन्ता से चिदानन्द की प्राप्ति होती है। तब चित् विश्वचेतनता में परिवर्तित हो जाता है। शिवचेतना प्राप्ति का पर्यायवाची है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वोत्कृष्ट आनन्द-जगदानन्द प्राप्त होता है। जिससे सब विश्व शिव-स्वरूप भासता है। यह मुक्ति केवल युक्ति अथवा दर्शनों पर मनन से प्राप्त नहीं होती है। इसके लिये शक्तिपात्र अनिवार्य है।

## शक्तिपात अथवा अनुग्रह

उच्च संस्कारों के सहित उत्पन्न जीव तीव्र शक्तिपात ग्रहण करते हैं और शीघ्र मुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे जीव भी अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार मध्यम व मन्दशक्तिपात ग्रहण करते हैं और क्रम से अपने समय पर मुक्त हो जाते हैं। किन्तु शक्तिपात में यह ध्यान देने की विशेष बात है कि भगवान् अपनी स्वतन्त्र शक्ति द्वारा ही जीव पर कृपा करते हैं इसमें पात्र कुपात्र का भेद कुछ नहीं रहता। केवल भगवान अपनी इच्छा से लीला के बहाने सब कुछ करते हैं। मन्द मात्रा में कृपा प्रकट होने पर भी दीर्घकाल में परम लक्ष्य तक पहुँचा ही देती है। किन्तु जिस कृपा द्वारा परम लक्ष्य तक पहुँचा न जा सके वह वास्तव में कृपा नहीं—कृपा का आभास है। भगवान की अनुग्रह शक्ति जब तीव्र मात्रा में संचार करती है तो केवल सद्ग्रंथों का अवलम्बन लेने पर विकल्पों का क्षय करती है। अनुग्रह की मन्द तथा तीव्र गति में भेद केवल इतना ही रहता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवदनुग्रह प्राप्त होने पर भगवत् चरणों में स्थिति अवश्य होगी—शीघ्र हो या विलम्ब से। जो निष्काम हैं वहीं भगवत् शक्ति को धारण करने के सर्वोत्कृष्ट अधिकारी हैं। भगवत् कृपा प्राप्त करने के लिये तीन उपाय कहे हैं—

१. आणवोपाय २. शाकतोपाय ३. शाम्भवोपाय।

**१. आणवोपाय-** भक्त साधनों, अनुशासन व शास्त्रीय विधियों द्वारा ही आत्मसाक्षाकार की ओर अग्रसर होता है और इससे धीरे-धीरे मन एकाग्र होता जाता है और प्राण सूक्ष्म होते जाते हैं, जिसके फलस्वरूप प्राणों में शनैः—शनैः साम्यता आ जाता है। इसके उपरान्त सुप्त कुण्डलिनी के जागरणवश सुषुम्नानाड़ी का द्वार खुल जाता है— इसे भेदोपाय भी कहते हैं। क्योंकि भक्त जब इस उपाय द्वारा आत्मसाक्षात्कार की ओर अग्रसर होता है तो भेदभाव से युक्त होता है और धीरे-धीरे भेदभाव का परित्याग करके पूर्णता को प्राप्त करता है। इस उपाय में भक्त प्राण व मन को ही एकाग्र करके आगे उन्नति करता है। इसे क्रियोपाय भी कहा है जिसके अनुसार निरन्तर मंत्र जाप से भक्त उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

**२. शाक्तोपाय-** इसमें भक्त अपनी आन्तरिक वृत्तियों को दमन करके समावेश का लाभ प्राप्त करता है। इसमें प्रायः मन्त्रशक्ति ही उन्नति की राह पर ले जाती है जिसके बल से भक्त प्रतिभाज्ञान प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप भेदभाव का परित्याग करता जाता है और अन्ततः भेदभाव का परासंवित् में विलय हो जाता है और वह “मैं शिव ही हूँ” की भावना को प्राप्त करता है और विश्व उसे अपना ही विकास रूप भासता है। आण्वोपाय से भिन्न इस उपाय में केवल मन ही सर्वथा कार्य में लाया जाता है। इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं क्योंकि मानसिक क्रियाएँ ही इसमें मुख्य समझी जाती हैं। इस उपाय से सुषुप्त कुण्डलिनी मूलाधार से उठ कर जागृत अवस्था को प्राप्त होती है। और इसी उपाय द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाता है परन्तु इसमें प्राणों के संयम की आवश्यकता नहीं होती। इसे भेदाभेद उपाय भी कहते हैं क्योंकि यह भेद व अभेद दोनों पर निर्भर है।

**३. शाम्भवोपाय-** यह उपाय केवल उच्च कोटि के साधकों के लिए है जो कि अपने शिवत्व का चिन्तन करते-करते परम शिव भाव को प्राप्त करते हैं। यह निरन्तर चेतनता में स्थित रहने का मार्ग है। ऐसा भक्त पंचक्रिया के अन्वेषण से आरम्भ करके विकल्पक्षय की साधना तक अभ्यास करता है कि विश्वचिति भगवती की ही एक परछाई मात्र है। परन्तु अन्त में यह भावना भी त्यागनी पड़ती है फिर शुद्ध अहन्ता की प्राप्ति होती है।

इन तीनों के अतिरिक्त अनुपाय भी हैं-

**अनुपाय अर्थात् लघूपाय-** वास्तव में यह कोई उपाय नहीं है। शक्तिपात द्वारा ही यह प्राप्त होता है। इसमें बिना किसी आधार व अवलम्बन के ही योगी पूर्णाहन्ता स्वरूप को प्राप्त होता है। श्री क्षेमराज का दृष्टिकोण उक्त उपायों के विस्तार से भिन्न है। उनके विचार में मध्यनाड़ी के विकास से चिदानन्द की प्राप्ति होती है। आण्वोपाय में मध्यनाड़ी सुषुम्णा नाड़ी को ही कहा है। शाक्तोपाय में मध्यनाड़ी परासंवित् ही है और शाम्भवोपाय में यह अकृत्रिम अहं है। इन उपायों के अनुसार मध्यनाड़ी का विकास ही भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा प्राप्त करना ध्येय है। परन्तु श्री क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदय के सूत्र १८ में मध्यनाड़ी के विकास के लिये निम्न उपाय बतलाते हैं अर्थात् विकल्पक्षय; शक्तिसंकोच, शक्तिविकास; वाहच्छेद और आद्यन्तकोटिपरिशीलन।

प्रत्यभिज्ञा में पंचक्रिया पर चिन्तन और विकल्पक्षय के अभ्यास करने पर ही बल दिया गया है।

इस मत के अनुसार शिव की नाई पञ्चकृत्य जीव में भी निरन्तर होते रहते हैं। भक्त जन इस क्रिया को आन्तरिक भाव द्वारा ही चिन्तन करें ताकि उच्चतम चेतनता का विकास हो। स्थान व काल की प्रतीति जीव के लिए सृष्टि है जो वह देखता है। उसको स्थिर करना ही उसके लिए स्थिति है। और अहंता में लय होना ही उसके लिए संहार है। आत्म संकोच ही पिधान कहलाता है अथवा अभेद में जो भेद का अभासन होता है वही पिधान है। और अन्त में जब जीव पशुभाव को त्याग कर शिव-भाव को ग्रहण करता है उसी को अनुग्रह कहा है।

### अन्य उपाय

विकल्प क्षय-मन मायिक विचारों में निमग्न रहता है और दुख को प्राप्त होता है। विकल्प क्षय के अभ्यास का उद्देश्य है मन को क्षोभ से हटाना अथवा मानसिक विक्षिप्तता से मन को परे करना और आत्म चिन्तन का अभ्यास करना इस चेतनता का अभ्यास चित्त को विश्रान्त करने से और मन से कुछ भी विचार न करने से होता है परन्तु चेतनता का परित्याग न हो। ऐसे अभ्यास से समावेश की प्राप्ति होती है। निरन्तर समावेश की अवस्था को ही पूर्ण समावेश माना गया है। वास्तव में क्रममुद्ग्रही नित्योदित समाधि का स्वरूप है इसके प्राप्त होने पर सारा जगत ही चिद्रस से व्याप्त दिखता है। अर्थात् इस अवस्था में जड़ पदार्थ वर्ग भी ईश्वरीय प्रकाशमय ही आभासित होते हैं और सार्वभौमिक चेतनता का स्वरूप धारण करते हैं। ऐसी अवस्था में जगत का परित्याग नहीं किया जाता वरन् जगत रूप में ही आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता है। जीव वास्तव में अकृत्रिम अहंविमर्श को प्राप्त होता है। यही जीवन मुक्ति की अवस्था है। जीव का उद्देश्य आत्मचेतनता

1. कार्ममल- पुण्य-पाप की वासना से जिस मल का उद्भव होता है वह कार्ममल कहलाता है।
2. मायीय मल- माया से युक्त मल जो कि जीव के स्थूल व सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कराने का हेतु है अर्थात् वैद्य वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न समझना ही मायीयमल है।
3. आणव मल- अणु भाव से सम्बन्धित मल जो कि जीव की सविभौतिक चेतनता को सीमित करता है और जोकि अल्पज्ञता को उत्पन्न करता है।

और विश्व को एक रूप करना है। साधारण जीव को सकल कहा जाता है इस पर तीन प्रकार के आवरण हैं- कार्ममल<sup>१</sup>, मायीयमल<sup>२</sup> व आणवमल<sup>३</sup>।

नाना योनियों में से पार होकर फिर कभी जीव में आध्यात्मिक चिन्तन स्फुरित होता है जो कि प्रथम परम शिव के अनुग्रह से होता है। यदि फिर भी वह सचेत न हो और न्यून प्रकार के योग में ही मस्त रहे तो वह प्रलयाकल बनता है और कार्म मल, मायीय मल तथा आणव मल के आवरण से आवृत रहता है। यह कोई ऊँची अवस्था नहीं। सृष्टि के संहार के समय वह प्रलयाकल अवस्था में ही पड़ा रहता है।

जब कार्म तथा मायीय मल को त्याग कर जीव अग्रसर होता है तो विज्ञानाकल की अवस्था को प्राप्त होता है उसमें ज्ञान व इच्छा रहती है परन्तु क्रिया नहीं।

इसके उपरान्त जब सकल (जीव) तीनों प्रकार के मलों को त्याग देता है तो क्रम से मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिव-प्रमातृ-पद को प्राप्त करता है। तब शिवप्रमाता को विश्व शिव रूप ही भासने लगता है और विशुद्ध शिवमय आत्मस्वरूप में समष्टि रूप से पूर्णहन्ता को ग्रहण कर प्रतिष्ठित होता है। योगी उस मार्ग में शिवत्व के प्रकाश का अनुभव करता है और उसके सब आवरण नष्ट हो जाते हैं और वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है।

- कमला बाबा

#### १. डल व्यू, निशात

पो. - ब्रेन, श्रीनगर (कश्मीर)

२. ६/२६, ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली - ११०००८

ॐ नमो मङ्गलमूर्तये

अथ

### प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।  
 चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थाविभासिने ॥१॥  
 शांकरोपनिषद्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधे : ।  
 क्षेमेणोदधियते सारः संसारविषशान्तये ॥२॥

इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्षणतर्कं शास्त्रपरिश्रामाः शक्तिपातोन्मिषत-  
 पारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः तेषाम्  
 ईश्वर-प्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाकृ उन्मील्यते -

चिदानन्दघन-चेतनानन्दमय-अपनी ही आत्मा सर्वोपरि वस्तु है। जो अपने  
 चिदानन्दमय स्वात्मा का अवभासन-प्रकाशन करता हुआ निरन्तर  
 पञ्चकृत्य-अनुग्रह, निग्रह, संहार, स्थिति और सृष्टि या जीव दृष्टि से सृष्टि,  
 स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह-विधान के स्वभाव वाला शिव है। वही परम  
 तत्त्व है। उसको मैं नमस्कार करता हूँ।

(इस शास्त्र में नमस्कार करने का अर्थ अन्य शास्त्र की तरह अन्य के  
 उत्कर्षज्ञापन पूर्वक अपने लिए अपकर्ष=ज्ञापन नहीं है। अपितु उत्कर्ष विशेष  
 से अपने को एक करना-उसमें लीन हो जाना-उसमें तन्मय हो जाना है)  
 शांकरोपनिषद् नामक अथवा विज्ञान-भैरव नामक शिव कथित ग्रंथ प्रसिद्ध है।  
 उसका सारभूत प्रत्यभिज्ञा शास्त्र है जिसे महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् उत्पलदेव ने  
 लिखा है। वह अंत्यधिक न्याय-निर्णययुक्त होने से आगध समुद्र जैसा है। मैं  
 क्षेमराज उसी ग्रन्थ में से सारभूत प्रतिपादित विषय को निकाल कर यहाँ प्रतिपादित

करता हूँ, जिससे संसार रूपी विष का शमन हो। इस प्रत्यभिज्ञाहृदय ग्रंथ को जो कोई भी समझ लेगा, उसे संसार दुखप्रद नहीं लगेगा। इस ग्रंथ में वर्णित सत्य को हृदयंगम करते हुए जो इसे अनुभव कर लेगा, अर्थात् इसमें समाविष्ट हो जायेगा, वह अपने को परमशिव रूप अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्त हो जावेगा।

इस संसार में जो लोग अपरिपक्व बुद्धि वाले हैं, जिन्होंने कठिन तर्कशास्त्र के अनुशीलन में घोर परिश्रम नहीं किया है, किन्तु परमेश्वर द्वारा शक्तिपात हो जाने से शिव-भक्ति सम्पन्न हैं और परमेश्वर के समावेश के जो इच्छुक हैं, शक्तिपात होने के कारण परमेश्वर में तन्मयता के लिये जिनकी तीव्र अभिलाषा होती रहती है, उन लोगों के लिये ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विषयक जो उपदेश है, उसका तत्त्व तनिक प्रकट करता हूँ।

### टिप्पणी

श्री क्षेमराज जी ने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा शास्त्र से ही सार निकाल कर प्रत्यभिज्ञाहृदय शास्त्र की रचना उन भक्तों पर कृपा करने के लिए ही की है, जो भक्ति सम्पन्न हैं अथवा शक्तिपात से युक्त हैं तथा परमेश्वर के समावेश के अभिलाषी हैं किन्तु तीक्ष्ण तर्कशास्त्र के मनन में असमर्थ हैं।

**तत्र स्वात्मदैवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वं  
च अभिव्यड्क्तुमाह—**

**चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥१॥**

‘विश्वस्य’—सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य ‘सिद्धौ’-निष्पत्तौ, प्रकाशने, स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा ‘चिति’: एव भगवती ‘स्वतन्त्रा-अनुज्ञर विमर्शमयी शिव भद्रारकाभिन्ना’ ‘हेतुः’—कारणम्। अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च निवृत्तप्रसरायां च निमिषति;—इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी। अन्यस्य तु माया प्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम्; प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः, न त्वसौ कर्षिच्चत्। अतएव देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च

नैतत्स्वरूपं भेत्तु मलम्, -इति व्यापक-नित्योदित- परिपूर्णरूपा  
इयम्-इत्यर्थलभ्यमेव एतत्।

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्; अभेदे च कथं हेतुहेतुमद्भावः? उच्यते चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्त जगदात्मना स्फुरति,-इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः यतश्च इयमेव प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयमस्य विश्वस्य सिद्धौ-प्रकाशने हेतुः, ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपयुक्तम् उपपनं वा तदुक्तं त्रिकसारे।

स्वपदा स्वशिरश्च्छायां यद्वल्लडिघतुमीहते ।  
पादोदेशो शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला ॥ इति ॥

यतश्च इयं विश्वस्य सिद्धौ पराद्वयसामरस्यापादनात्मनि च संहारे हेतुः, तत एव स्वतन्त्रा । प्रत्यभिज्ञातस्वातन्त्र्या सती, भोगमोक्षस्वरूपाणां विश्वसिद्धीनां हेतुः । इति आवृत्या व्याख्येयम् ।

अपि च विश्वं नील-सुख-देह-प्राणादि; तस्य या 'सिद्धिः' प्रमाणोपारोहक्रमेण विमर्शमयप्रमात्रावेशः सैव 'हेतुः'-परिज्ञाने उपायो यस्याः । अनेन च सुखोपायत्वमुक्तम् । यदुक्तं श्रीविज्ञानभट्टारके

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।  
योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता ॥ इति ॥

'चितिः'-इति एकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्त भेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति । 'स्वतंत्र'-शब्दो 'ब्रह्मवादवैलक्षण्यम् आचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते । 'विश्व'-इत्यादिपदम् अशेषशक्तित्वं, सर्वकारणत्वं, सुखोपायत्वं महाफलं च आह ॥ १ ॥

इस तत्त्वकथन में सर्वप्रथम यह प्रकट करने के लिये कि अपनी आत्मा ही देवता है, वही विश्व के सब पदार्थों का कारण है और वह सुलभ उपाय द्वारा प्राप्त होने योग्य है; स्वात्मदेवता ही सब फलों से बड़ा फल है, यह कहने के लिये ही उपरोक्त सूत्र है ।

I am everything that there is in  
this universe. I have been well  
and can be to use it either  
and can be to use it either  
~~or~~  
Bogh (material) or moksha  
~~or~~

सूत्र 9 - चेतन-शिव-अपनी आत्मा की जो स्वातन्त्र्य-शक्ति है, उसी को  
चिति कहते हैं। वही विश्व की सिद्धि में कारण है क्योंकि वह सब कुछ करने में  
स्वतन्त्र है। भोग मोक्ष दोनों को वही दर्शाती है।

विषयोपरागरहित चेतन की स्वरसवाहिनी स्फुरता ही चिति है जिसे स्वातन्त्र्य  
कहते हैं। स्वतन्त्र चित् शक्ति स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण जगत्-विश्व की सिद्धि में  
कारण है। इस सूत्र में “विश्व” शब्द का अर्थ है—सदाशिव तत्व से लेकर  
पृथ्वीतत्व पर्यन्त 34 तत्व। इनकी सिद्धि यह होती है :—उत्पत्ति स्थिति और संहार  
में प्रकाशित होना, पुनः पर प्रमातृत्व रूप शिवस्वरूप अपने आप में विश्रान्त होना  
ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार है। यह सब कार्य पराशक्ति रूपा तुर्यातीत चिति  
भगवती अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से करती है। यह चिति सबसे श्रेष्ठ अहं रूपी  
विमर्श युक्त परम शिव से अभिन्न है। जगत की उत्पत्ति का कारण यह चिति ही  
है। शक्तिरूपा चिति के उन्मिष्ट होने फैलने पर—जगत उद्भूत होता है, स्थिर  
होता है। इस प्रकार जब ~~निमिषित~~ होता है तब संसार विलीन हो जाता है अर्थात्  
संसार नहीं रहता है। *Opening and Closing of eye*  
*निमेष उनमेष*

दूसरे शब्दों में—शक्ति रूपा चिति के प्रसारित—फैलने पर जगत प्रकट होता  
है और चिति के निमेष करने पर अर्थात् संकोच करने पर जगत का संहार होता है।  
इसको अपने अनुभव से ही देखिये। अपना अनुभव ही इसमें साक्षी है—प्रमाण है।

शब्दार्थ—चिति से अन्य जो ब्रह्मवाद में माया व सांख्य में प्रकृति आदि को  
जगत का कारण कहा गया है वह कदमपि संभव नहीं। क्योंकि प्रकाशरूपा चिति से  
भिन्न तो अप्रकाशमान ही होगा। अप्रकाशमान की तो सत्ता ही नहीं हो सकती। वह  
किसी वस्तु के लिये कारण कैसे हो सकता है। यदि माया आदि को भी प्रकाशरूप  
मानें तब तो वह प्रकाशरूप चिति से अभिन्न ही होगा। इसलिये प्रकाशरूप चिति  
ही कारण है, न कि माया प्रकृति आदि कोई भी। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि  
देश, काल, आकार आदि जो प्रकाशमान हैं, वह भी इस चिति के द्वारा ही रखे हुए  
हैं, अर्थात् प्रकाशित हैं—जीवित हैं—सत्तालाभ किये हुए हैं। तब यह चिति के  
स्वरूप का भेदन करने में अर्थात् उसे अनेक रूपों में प्रकट करने में समर्थ नहीं हो  
सकते हैं। अतएव ~~देश काल~~ <sup>जीवने का वक्ता</sup> और ~~आकार~~ <sup>दृष्टि</sup> इस चिति से ही उत्पन्न हुए हैं और  
जीवित हैं इसके स्वरूप का भेदन करने के लिये अन्य कोई भी समर्थ नहीं है।

**इत्यतः** यह व्यापक नित्योदित और परिपूर्ण है। यह चिति रूपा शक्ति शिव से अभिन्न होने से विश्व सृष्टि की मूल कारण है। इसका रूपान्तर नहीं होता। परन्तु प्रसार तथा संकोच होता है। शक्ति ही जगत का रूप लेकर प्रकट होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि यह चिति व्यापिका है। चिति नित्योदिता है और परिपूर्ण रूपा है। यह चिति देश काल आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। इसका अवच्छेदक कोई भी नहीं है। इसलिये यह अखण्ड है।

“ननु” शब्द का अर्थ शंका होना—तो शंका यह होती है कि यदि संसार को चिति से भिन्न मानें तो फिर यह जगत् ठहर नहीं सकता, और यदि इस संसार को चिति से अभिन्न माना जाये तो फिर कार्य-कारण भाव कैसे सिद्ध होगा कारण से तो कार्य भिन्न हुआ करता है। तो सुनिये कहता हूँ—भगवती चिति ही स्वच्छ स्वतन्त्ररूपा है। वही इस अनन्त जगत् रूप से स्फुरित हो रही है, अर्थात् चमक रही है। बस इतना ही कार्य-कारण भाव है। क्योंकि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय रूप ही तो जगत् है। उसकी सिद्धि में अर्थात् प्रकट होने में चिति ही हेतु है। पीछे कहे अनुसार यह चिति ही प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय वर्गों को अर्थात् अनन्त जगत् को प्रकट करने में कारण (हेतु) है। इसकी अखण्ड सत्ता में स्वातन्त्र्य अभिन्न रूप से विद्यमान है। इस प्रकार स्वतन्त्र है। विच्छेद रहित है। स्वयं प्रकाश रूप है। इसे सिद्ध करने के लिये यहाँ कोई भी प्रमाण उपयुक्त नहीं है। इसलिए स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशरूप इस चिति को सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। और न कोई प्रमाण हो ही सकता है। क्योंकि इसके तुल्य अथवा समानता में कोई वस्तु है ही नहीं।

**टिष्पणी**—जिन दो प्रकार की वस्तुओं में समानता होती है, उन्हीं का एक दूसरे के प्रति प्रमाण दिया जाता है। किन्तु चिति के तुल्य कोई भी वस्तु नहीं, इसलिये उसके प्रति किसी अन्य वस्तु का प्रमाण कैसे दिया जा सकता है?

इसी अभिप्राय से त्रिकसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

जैसे कोई अपने पैरों से अपने ही सिर की छाया का उल्लंघन करने की चेष्टा करे तो सिर की छाया कभी भी अपने पैरों के स्थान पर नहीं आ सकती अर्थात् सिर की छाया को अपने ही पाँव द्वारा लांघना चाहे तो पाँव की जगह से और आगे अपने

सिर की छाया ही जावेगी, अर्थात् अपने पैरों द्वारा अपने सिर की छाया का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वैसे ही प्रमाण द्वारा चिति को—वैन्दवीकला को समझने वाले की दशा होगी, अर्थात् चिति को उसी से निर्मित बुद्धि आदि से समझना संभव नहीं है।

**स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः**—इस पद की दो बार आवृत्ति करके दो अर्थ करते हैं कि यह चिति विश्व की सिद्धि में और पराद्वय रूप—सामरस्य रूप संहार में हेतु है। इसकी यह स्वतन्त्रता अभिज्ञात हो जाने पर यह भोग मोक्ष रूप—विश्व सिद्धि की हेतु हो जाती है—यह दूसरा अर्थ हुआ। क्योंकि यह चिति भगवती जगत् की सिद्धि का कारण है अथवा जगत् को प्रकट करने का कारण है—पूर्ण रूप है—सामरस्य पद में प्रतिष्ठित कराने वाली है तथा अखिल जगत् की आत्मा है। इसी से यह स्वतन्त्ररूपा है, भोग तथा मोक्ष को देने वाली है अथवा जगत् की सिद्धि की हेतु है।

‘विश्वसिद्धिहेतु’ पद की बहुब्रीहि समास द्वारा चिति का विशेषण बना कर अर्थ करते हैं। और विश्व है नील, पीत, सुख, देह, प्राण आदि सब कुछ। इसकी सिद्धि का अर्थ है—इन्द्रियों द्वारा इन विषयों को विमर्शमय प्रमाता में प्रविष्ट कराना, अर्थात् विश्व सिद्धि का अर्थ है विषयों का ज्ञान होना—अतः यह ज्ञान ही हेतु है अर्थात् समझने का उपाय है।

अब इसी सूत्र द्वारा यह भी दिखलाते हैं कि यह सुलभ उपाय है जिस चिति का विश्व ज्ञान द्वारा ही भान होता है, उस चिति को समझने का उपाय सुलभ है। इसी कथन में विज्ञानभैरव का प्रमाण देते हैं। ग्राह्य अर्थात् विषय ग्राहक अर्थात् प्रमाता, संवित्ति अर्थात् ज्ञान—यह तो सब देहधारियों को एक ही समान है, किन्तु योगियों की यह विशेषता होती है कि सम्बन्ध में सावधान रहते हैं। अर्थात् योगी—“मैं ही ग्राहक हूँ—यह नहीं भूलता है इस प्रकार स्पष्ट है कि विषयों को ग्रहण करते समय भी चिति का साक्षात्कार होता है।

**टिप्पणी :**—सब देहधारियों को ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता का ज्ञान एक जैसा ही है। किन्तु योगियों में यह विशेषता है कि जब ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध होता है उसी समय उन्हें आत्मावस्था का भान होता है। प्रमाता

सदा प्रमेय के साथ सम्बन्धित रहता है, किन्तु चैतन्य के बिना प्रमेय नाम की कोई वस्तु ही नहीं। इसका अनुभव योगियों को सदा होता रहता है।

**चिति:** इति एकवचनं..... इस सूत्र में चिति तो एकवचन है। वह चिति की देशकाल आदि अवच्छेदक शून्यता प्रकट करता है। और सारे भेदभाव की अवास्तविकता प्रकट करता है।

अर्थात् यह देश तथा काल के द्वारा संकुचित-सीमित नहीं है। अथवा चिति देश काल आकार आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। इसका अवच्छेदक कोई भी नहीं है। इसलिये यह अखण्ड है। इसी प्रकार 'स्वतन्त्र' शब्द ब्रह्मवाद अर्थात् वेदान्त से इस शास्त्र की विलक्षणता कहता है। अतः यहाँ स्वतन्त्र शब्द यह प्रकट करता है कि पराशक्ति ही चिति का स्वरूप है और चिति माहेश्वर्य रूपा अर्थात् स्वतन्त्र है। विश्वसिद्धिहेतु-पद चित् की सर्वशक्तिमत्ता सर्वकारणता सुखोपायता एवम् महाफलता को बतलाता है।

**टिप्पणी :-** विश्व-जो शब्द है वह इस बात का परिचायक है- परिचय देता है- कि चिति भगवती अनन्त शक्ति-सम्पन्ना है, सबकी कारण रूपा है, स्वात्मा है अखिल जगत की आत्मा है। मुक्ति का सरल सुखोपाय तथा महाफल अर्थात् अन्तिम लक्ष्य है। उसके द्वारा उस परम स्थिति को अथवा आत्मावस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

सूत्र में स्वतन्त्र शब्द यह प्रकट करता है कि पराशक्ति ही चिति का स्वरूप है। यह चिद्रूपा शक्ति जड़ शक्ति नहीं है, किन्तु शक्ति दृष्टि से यह शक्ति परमेश्वर की अचिन्त्य महिमा या स्वातन्त्र्य है।

ब्रह्मवाद का सिद्धान्त इससे भिन्न है और उसमें चिति की स्वतन्त्रता अंगीकृत नहीं, उसमें चिद्रूपा शक्ति जड़ है। वेदान्ती शक्ति को मानते हैं। परन्तु वह शक्ति माया रूपा है जिसको मिथ्या कहा जाता है।

**ननु विश्वस्य यदि चिति: हेतुः तत् अस्या उपादानाद्यपेक्षायां भेदवादापरित्यागः स्यात्-इत्याशङ्क्य आह-**

स्वेच्छया स्वाभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥२॥

‘स्वेच्छया,’ न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया, तथैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षाया,—एवं हि प्रागुक्त स्वातन्त्र्यहान्या चित्त्वमेव न घटेत—‘स्वाभित्तौ,’ न तु अन्यत्र क्वापि प्राक् निर्णीतं ‘विश्वं’ दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नामिव ‘उन्मीलयति’। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।—इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तं ॥२॥

शंका होती है कि यदि चित्ति विश्व की कर्ता है, तो इसके उपादान अर्थात् समवायि कारण की अपेक्षा होती होगी। जैसे घट बनाने वालों को मिट्टी की अपेक्षा होती है। तब तो अभेदवाद न हुआ प्रत्युत भेदवाद ही सिद्ध हुआ। इस पर यह दूसरा सूत्र कहा गया है। कि

सूत्र २ — चिति भगवती अपनी इच्छा से न कि ब्रह्मादि की भाँति अन्य की इच्छा से—एवं अपनी इच्छा मात्र से ही न कि किसी उपादान आदि को लेकर विश्व सृष्टि करती है। यदि अन्य की अपेक्षा करे तो पूर्व कथित इसका स्वतन्त्र ही नहीं रहता। एवं स्वभित्ति में ही अर्थात् अपने में ही—न कि अन्यत्र कहीं पर—पूर्व कथित विश्व को दर्पण में नगर आदि के प्रतिबिम्बिवत् अभिन्न को ही भिन्न जैसा उन्मीलित करती है, अर्थात् प्रकट करती है (स्थित वस्तु को प्रकट करने का अर्थ उन्मीलन है) अर्थात् केवल अपनी इच्छा द्वारा अपनी स्वरूप रूपी भित्ति पर—अन्य किसी आधार पर नहीं—यह चिति जगत् को प्रकट करती है। अपनी ही इच्छा द्वारा—किसी अन्य की इच्छा से नहीं—

*malenial Cause*      *efficient Cause*

टिप्पणी :—अतः उपादान और निमित्त कारणों की इसे अपेक्षा नहीं है। यदि ऐसा मान लें कि उपादान और निमित्त कारणों की इसे अपेक्षा है, तो पूर्व कथित स्वतन्त्रता का निषेध हो जाने से चिति सिद्ध नहीं हो सकती, अर्थात् पूर्व में कही चैतन्यता का खण्डन हो सकता है। चिति पूर्व निर्धारित—निर्णीत जगत को प्रकट करती है अर्थात् जो जगत मयूराण्डरसवत् उसमें पहले से ही विद्यमान रहता है, उसी को प्रकट करती है। इसका अभिप्राय यह है कि विश्व—प्रकाशरूप आत्मा शिव से अभिन्न रूप है।

अथ विश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रतिपादयितुमाह.

तनाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ॥३॥

‘तत्’ विश्वं ‘नाना’—अनेकप्रकारम्। कथं? अनुरूपाणां—परस्परौचित्यवस्थितीनां ‘ग्राह्याणां ग्राहकाणां च’ ‘भेदात्’—वैचित्र्यात्। तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं, तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टाकारकाधिष्ठितो मंत्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः। ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ता—हन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टाकाधिष्ठितो मंत्रेश्वरवर्गः। विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टाकारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथा भूता मन्त्राः प्रमातारः, तथाभूतमेवयथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्। मायोध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मक—पूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम्। मायायां शून्यप्रामातृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्। क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णशिव भट्टाकरस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूप एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकधन्त्य एवं विधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्री परमशिवभट्टाकर एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।—इत्यभिहितप्रायम् ॥३॥

अब संसार के स्वरूप को पृथक्-पृथक् रूप से कहने के लिये आगामी सूत्र है।

सूत्र ३ — इस सूत्र का अर्थ यह है कि यह विश्व नाना अर्थात् अनेक प्रकार का है अपने अनुरूप ग्राह्य ग्राहक अर्थात् विषयक-विषयी के भेद से।

इन भेदों को आचार्य स्पष्टरूपेण दिखलाते हुए कहते हैं कि यह विश्वरूप शिव अनेक प्रकार का है—कैसे? अनुरूप परस्पर अपनी-अपनी स्थिति के

अनुकूल ग्राह्य और ग्राहक की विचित्रता से जैसे सदाशिव तत्त्व में अहन्ता से आवृत अस्फुट इदन्ता अर्थात् अहं से अंकुरित इदन्ता रूप जैसा परापर रूप अर्थात् भेदाभेदमय ग्राह्य अर्थात् विषय है, वैसे ही श्री सदाशिव देव से अधिष्ठित अर्थात् सदाशिव भट्टारक स्वामी वाले मन्त्रमहेश्वर कहलाने वाले प्रमातृवर्ग भी हैं। परमेश्वर ने इन लोगों की वैसी ही स्थिति बनाई है एवं ईश्वर तत्त्व में स्फुट इदन्ता तथा अहन्ता की समानता होने से समान अहन्ता इदन्ता वाला जैसा ग्राह्य विश्व है वैसे ही उस तत्त्व में रहने वाले ईश्वर भट्टारक स्वामी वाले मन्त्रेश्वर वर्ग प्रमाता लोग हैं। शुद्ध विद्या तत्त्व से नीचे माया से ऊपर बीच में महामाया में स्थित जैसे विज्ञानाकल नाम वाले कर्तृता से रहित अर्थात् अहम् विमर्श रहित शुद्धबोध स्वरूप प्रमाता लोग हैं उन लोगों का वैसा ही उनमें अभेदमय प्रमेय है। जो उसको पूर्व अवस्था सकल तथा प्रलयकाल अवस्था में परिचित थी। माया तत्त्व में शून्य प्रमाता लोग प्रलयके विल नाम वाले हैं। उन लोगों का प्रमेय उनके अनुरूप ही प्रलीन रूप ही है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म वासनामय है। पृथ्वी पर्यन्त अवस्थित जो सकल नाम वाले परस्पर भिन्न परिमित स्वरूप वाले प्रमाता लोग हैं, उनके वैसे ही भिन्न-भिन्न परिच्छिन्न प्रमेय हैं। माया से पार जो प्रकाश मात्र देह वाले शिव भट्टारक हैं, उनके प्रमेय भी प्रकाशमय ही हैं। श्रीमान् परमशिव का जो कि विश्व से उत्तीर्ण है, विश्व स्वरूप हैं, परमानन्दमय प्रकाशैकधन हैं, उनमें उनके जैसा ही अर्थात् प्रकाशमय ही शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त निखिल विश्व अभेदमय ही है। न तो अन्य कुछ ग्राहक हैं और न ग्राह्य है। किन्तु स्वयं परमशिव भट्टारक ही इस प्रकार अनन्त विचित्रता के रूप से प्रस्फुरित हो रहे हैं। यह बात तो पहले कह चुका हूँ।

### टिप्पणी-

विश्व का वैचित्र्य ग्राह्य और ग्राहक के वैचित्र्य से है। सदाशिव तत्त्व में ग्राह्य विश्व परापर-भेदाभेद रूप है। क्योंकि यहाँ इदन्ता किञ्चिन्मात्र उन्मेष को प्राप्त है और अहन्ता द्वारा आच्छादित है। प्रकाश की आत्मस्वरूप में जो विश्रान्ति है, उसी का नाम अहन्ता है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं। इनके अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव हैं। ईश्वर तत्त्व में ग्राह्य विश्व में इदन्ता और अधिक परिस्फुट है। एवं वहाँ अहन्ता का प्रभाव उसकी अपेक्षा न्यून हैं। इस भूमिका में अहन्ता और इदन्ता का समानाधिकरण्य ही प्रकट होता है। यहाँ के प्रमातृ वर्ग को मन्त्रेश्वर

कहते हैं, जिनके अधिष्ठाता हैं ईश्वरभट्टारका यहाँ तक अभेद है।। शुद्ध विद्यातत्त्व में श्रीमान् अनन्तभट्टारक अधिष्ठातृ देवता हैं, मन्त्र वर्ग प्रमाता हैं। वे प्राणी अनेक शाखाओं के कारण अनेक भेदों से युक्त हैं। जिस प्रकार-मन्त्रवर्ग प्रमाता हैं, उसी प्रकार उनका विश्व प्रमेय भी है। ये प्रमाता भेदभाव युक्त हैं, तो इनका प्रमेय विश्व भी भेद प्रधान ही है।

उसके उपरान्त शुद्धविद्यापद में ग्राह्य विश्व भी भेद प्रधान-भेदैकसार और ग्राहक या प्रमाता भी वैसा ही है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्र कहते हैं। इन सब प्रमाताओं की अधिष्ठात्री शुद्धविद्या है। मायातत्त्व से परे जिस प्रकार कर्तृत्व से शून्य तथा शुद्ध बोधात्मा विज्ञानाकल हैं उसी प्रकार उनका प्रमेय भी है। वह सकल और प्रलयाकल में पूर्व अवस्थित अवस्थाओं के अनुरूप उनके प्रमेय हैं। माया भूमिका के प्रमाता प्रलयकेवलि हैं। वह शून्य के प्रमाता हैं। उनका प्रमेय भी प्रलीन कल्प है। पृथ्वी तत्त्व से सदाशिव पर्यन्य जो तत्त्व हैं, वह भिन्न अथवा सीमित हैं। उनके आश्रित नाना प्रकार के प्रमाता हैं, तथा उनके अनुरूप प्रमेय भी हैं। उनके ऊपर शिवभट्टारक अवस्थित है। वहाँ सब कुछ प्रकाशात्मक है। पुनः परमशिव इस शिव की ही परमस्थिति का नाम है। वह विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों एक साथ ही है॥

परमानन्दघन घनीभूत प्रकाश सदाशिव तत्त्व से पृथ्वीतत्त्व पर्यन्त अखिल सत्ताओं में अभेद रूप से स्फुरित होता है। इस प्रकार ग्राह्य तथा ग्राहक का किञ्चित् मात्र भेद नहीं रहता है॥

तब ज्ञात होता है कि एक मात्र परम शिव भट्टारक ही अनन्त विचित्र रूपों और आकारों में स्फुरित प्रकट होता है॥

### टिप्पणी-

विज्ञानाकल और प्रलयाकल दोनों ही प्रकार के जीव देह इन्द्रिय आदि से शून्य हैं। परन्तु प्रलयाकल में कर्म वासना रहती है। इसलिये नूतन सृष्टि में वह प्रमाता फिर से देह और इन्द्रियाँ प्राप्त करके उत्पन्न होते हैं।। किन्तु विज्ञानाकल प्रमाताओं में कर्म वासना नहीं रहती। उन्होंने विवेक और ज्ञान के बल से वह अवस्था प्राप्त की होती है। विज्ञानाकल की अवस्था दो प्रकार की

होती है। एक में स्वतन्त्रता नहीं अपितु बोध है। दूसरी अवस्था में स्वतन्त्रता है किन्तु बोध नहीं है।

परमशिव का अर्थ है शक्ति सहित शिव। शक्तिहीन प्रकाश अथवा शक्ति हीन शिव स्वतन्त्रता अथवा शक्ति के अभाव के कारण महेश्वर नहीं कहा जा सकता।

यथा च भगवान् विश्वशरीरः, तथा  
चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ॥४॥

श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवविभासयिषुः पूर्वं चिदैक्याख्यातिमयानाश्रित शिवपर्याय शून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति; ततः चिद्रसाश्यानतारूपाशेष तत्त्वभुवन—भाव—तत्त्वमात्राद्यात्मतयापि प्रथते। यथा च एवं भगवान् विश्वशरीरः तथा चिति संकोचात्मा संकुचितचिद्रूपः; ‘चेतनो’ ग्राहकोऽपि वटधानिकावत् संकुचिताशेषविश्वरूपः। तथा च सिद्धान्तवचनम्

विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही। इति ॥ त्रिशिरोमतेऽपि

“सर्वदेवमयः कायस्तंचेदानीं श्रुणु प्रिये।

पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽभ्यः प्रकीर्तितम् ।”

इत्युपक्रम्य-

‘त्रिशिरो भैरवः साक्षाद्वया विश्वं व्यवस्थितः।’

इत्यन्तेन ग्रन्थेन ग्राहकस्य संकुचितविश्वमयत्वमेव व्याहरति ॥

अयं च अत्राशयः—ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्त्या च विश्वशरीरशिवैकरूप एव, केवलं तन्मायाशक्तया अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् संकुचित इव आभाति; संकोचोऽपि विचार्यमाणः चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वात् चिन्मय एव, अन्यथा तु न किंचित्। इति सर्वों ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव ॥ तदुक्तं मयैव—

‘अख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।

ख्याति चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते ॥’ इति ।

अनेनैव आशयेन श्री स्पन्दशास्त्रेषु—

“यस्मात् सर्वमयो जीवः...।” (स्पन्दकारिका २.३-४)

इत्युपक्रम्य

“तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।”

इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एव उक्तः। एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः, एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः, इति भविष्यति एव एतत्। ४॥

जैसे भगवान् शिव सम्पूर्ण विश्वदेह वाला है वैसे ही ।

सूत्र ४-चिति के संकोचवाला चेतन अर्थात् ग्राहक भी संकुचित विश्वदेह वाला है ।

टिप्पणी-

जैसे भगवान् विश्वशरीर रूप है वैसे ही चैतन्य अथवा शिव रूप होने पर भी चिति जब संकोच को ग्रहण करती है, तब यह चैतन्यरूप शिव भी संकुचित जगत् रूप ही भासता है । ४॥

इस बात को स्पष्ट करके समझाने के लिये टीकाकार सृष्टि प्रक्रिया दिखलाते हुए कहते हैं कि श्री परमशिव अपने में अपने से अभिन्न रूप में स्थित विश्व को सदाशिव आदि पृथ्वी पर्यन्त समुचित क्रम से अवभासित करने का इच्छुक जब होता है, तब पहले पहल अनाश्रित शिव आदि शब्द से कहा गया है । दूसरे नाम वाला शून्याति शून्यरूप चिदैक्यता की अछ्याति अर्थात् भान न होना ही है । यह भी प्रकाशमान होता हुआ प्रकाश ही है । प्रकाश से भिन्न कुछ नहीं है । सब कुछ चित् ही है, अर्थात् मैं ही हूं । ऐसे ज्ञान का अभाव हो जाना ही अनाश्रित शून्यातिशून्य, अनाश्रित शिव आदि शब्द से कहा गया है । तदनन्तर चिदरस के जम जाने से समस्त सदाशिव आदि उन उन तत्त्व भुवन लोक तथा भाव अर्थात् प्रमेय और उन उन प्रमेयों के प्रमाता रूप से ही वही परम शिव प्रकाशित होने लगता है । जैसे भगवान् पूर्वोक्त प्रकार से विश्व शरीर वाला है, उसी प्रकार चिति के संकुचित हो जाने से चिदरूप ही चेतन अर्थात् ग्राहक-प्रमाता भी बट-बीज के समान संकुचित सम्पूर्ण विश्व रूप है । श्री परम शिव विश्व को प्रकट करने की इच्छा से अनाश्रित

शिव दशा को शून्यातिशून्यदशा को-प्राप्त होता है यह दशा शक्ति से नीचे और सदाशिव दशा से ऊपर है। इस दशा को प्राप्त होने के उपरान्त वह भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों में प्रकट होता है, अर्थात् चिति रूपी रस स्थूलता को प्राप्त होता जाता है। फिर ३६ तत्त्व ११२ लोक, सम्पूर्ण पदार्थ तथा नाना प्रमेय वर्गों में विकसित होता जाता है। अर्थात् विविध तथा विचित्र दृश्यों के आकारों में भासमान होता है जैसे यह बात सिद्ध करने के लिये कहा है कि भगवान् ही जगत्-सृष्टि रूप में भासमान होता है वैसे ही चिति के संकोच ग्रहण करने पर सम्पूर्ण जगत बट बीज की न्याई संकुचित हो जाता है।

### टिप्पणी-

**परम शिव-सृष्टि** के आदि से जो अव्यक्त पूर्ण निराकार, और शून्य स्वरूप, तत्त्वातीत प्रपञ्चातीत तथा व्यवहार पथ से भी अतीत वाणी और मन के अगोचर हैं वही परम शिव हैं। परमशिव अन्तर्लीन विमर्श अथवा शुद्ध प्रकाश मात्र हैं।

### अनाश्रित शिव दशा-

यह दशा शक्ति से नीचे और सदा शिव दशा से ऊपर है। शक्ति हीन शिव ही अनाश्रित शिव के नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् उसमें जड़ता आ जाने के कारण व स्फुरण न रहने के कारण एक प्रकार से अविद्या से भरा है, परन्तु शक्ति के योग से वही अनाश्रित शिव परम शिव पद को प्राप्त करता है।

### शिव-

चैतन्यात्मक रूप का नाम शिव है।

यह चिति भगवती अदृश्य चिन्मय स्वरूप में स्थित रह कर भी व अनन्त जगत् के आकारों में स्फुरित होकर भी अपने अद्वैत चित्स्वरूप से स्खलित नहीं होती।

इसलिये सिद्धान्त वचन भी ऐसा ही है कि-एक भी देह और देही सब देह और देही रूप है। सब शरीर अपने से भिन्न सब शरीर और शरीरी रूप हैं-इति।

त्रिशिरो भैरव मत में भी यही कहा गया है कि-

तीन शिर वाला अर्थात् इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियों से युक्त जो भैरव अर्थात् सब पदार्थों को धारण करने वाला है, वह सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित है। इस प्रकार ग्राहक ही संकुचित विश्वमय है। अर्थात् प्रमाता निज स्वरूप में स्थिर रह कर भी विश्वरूप में स्फुरित हो रहा है।

इस सूत्र का यह आशय है कि यह ग्राहक जो प्रमाता है सो प्रकाश स्वरूप होने से पूर्वोक्त आगम प्रमाण से और युक्ति से विश्वशरीर वाला शिव रूप ही है। केवल मात्र अपनी माया शक्ति के द्वारा अपने रूप को न प्रकट करने से ही संकुचित जैसा भासित होता है। विचार करने पर संकोच भी चिद्रूप ही है। क्योंकि चित्स्वरूप हो करके वह प्रकाशित होता है। इसलिये चिन्मय ही है। यदि चिद्रूप न हो, तो वह कुछ भी नहीं। चिद्रूप प्रकाश से भिन्न तो किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये सब ग्राहक अर्थात् प्रमाता विश्व शरीर वाला शिव ही है। जैसा कि मैंने कहा है कि अख्याति अर्थात् अपना अज्ञान ही यदि प्रकाशित नहीं होता है, तब तो अपना ज्ञान ही रहा। यदि वह प्रकाशित होता है तब तो प्रकाश रूप होने से वह अज्ञान भी अपना ज्ञान ही है। इति ॥

इस आशय से स्पन्द शास्त्र में भी कहा है कि जीव सर्वमय है जीव से सभी भावों की उत्पत्ति होती है। उन भावों के ज्ञान से ही तादात्म्य की सिद्धि हो जाती है। इसलिये किसी भी शब्द में अर्थ में या चिन्ता में वह अवस्था नहीं है जो शिवरूप न हो। ऐसा प्रारम्भ में कहा है। ऐसी अवस्था का सर्वदा अभाव है जो शिवमय न हो। क्योंकि भोक्ता ही सब काल में सब जगह भोग्यरूप से रहता है। इसी कारणवश जीव और शिव में एकता-अभेद कहा गया है। इन दोनों में अभेद का विज्ञान ही मुक्ति है। इस तत्त्व का ज्ञान न होना ही बन्धन है।

### टिप्पणी-

शिव अपने प्रकाश स्वरूप में स्थिर रह कर भी अनन्त जगत् रूप में स्फुरित हो रहा है। परम स्वातन्त्र्य रूपा अपनी माया शक्ति के द्वारा आवृत होने के कारण संकुचित जैसा दृष्टिगोचर होता है। प्रमाता के संकोच ग्रहण करने पर और प्रसर शील होने पर ही भेद दिखाई देता है। वास्तव में भेद नहीं है। केवल अखण्ड चिन्मय स्वरूप ही अनन्त रूपों और भावों में स्फुरित होता है, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है।

## टिप्पणी-

नानारूपों में आभासमान होना ही उत्पत्ति अथवा शक्ति का प्रसारशील होना कहा गया है और अपने निजस्वरूप में जब शक्ति प्रतिष्ठित होती है, इसी को इसका संकोच ग्रहण करना कहा गया है ॥

इस अभिप्राय से श्री स्पन्द शास्त्र में भी विचार किये जाने पर ज्ञात होता है कि ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो शिव स्वरूप न हो। यहां शिव और जीव का अभेद बतलाया गया है। इस तत्त्व के परिज्ञान को ही मुक्ति कहते हैं और इस परिज्ञान के अभाव को ही बन्धन कहते हैं।

ननु ग्राहकोऽयं विकल्पमयः, विकल्पनं च चित्तहेतुकं; सति च चित्ते,  
कथमस्य शिवात्मकत्वम्? इति शङ्खित्वा चित्तमेव निर्णेतुमाह

चित्तिरेव चेतन पदाद्वरुद्धा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ॥५॥

न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्, अपितु सैव भगवती तत्। तथा हि सा स्वं स्वरूपम् गोपयित्वा पदा संकोचं गहाति, तदा द्वयी गतिः। कदाचित् उल्लासितमपि संकोचं गुणीकृत्य चित्प्राधान्येन स्फुरित, कदाचित् संकोच प्रधानतया। चित्प्राधान्यपक्षे सहजे प्रकाशमात्रप्रधानत्वे विज्ञानाकलता; प्रकाश परामर्श प्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता। तत्रापि क्रमेण संकोचस्य तनुतायाम्, ईश-सदाशिवानाश्रितरूपता। समाधि प्रयत्नोपर्जिते तु चित्प्राधानत्वे-शुद्धाध्व प्रमातृता क्रमाळ्कमं प्रकर्षवती। संकोचप्राधान्ये तु शून्यादिप्रमातृता। एवमवस्थिते सति चित्तिरेव संकुचितग्राहकरूपा ‘चेतनपदात् अवरुद्धा’-अर्थग्रहणोन्मुखी सती ‘चेत्येन’ नीलसुखादिना ‘संकोचिनी’ उभय-संकोच संकुचितैव चित्तम्। तथा च

‘स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युज्ञानं क्रिया च या।  
मायातृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः ॥’

इत्यादिना स्वातन्त्र्यात्मा चिन्तिशक्तिरेव ज्ञानक्रिया-मायाशक्ति-रूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्त्व-रजस्तमः स्वभावचिन्तात्मतया स्फुरति—इति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम्। अतएव श्रीतत्त्वगर्भस्तोत्रे विकल्पदशायामपि तात्त्विक-स्वरूपसद्भावात् तदनुसरणाभिप्रायेण उक्तम्-

‘अतएव तु ये केचित्परमार्थानुसारिणः ।  
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ठत्वं न लुप्यते ॥’ इति ॥५॥

अब शंका होती है कि यह ग्राहक जो प्रमाता है वह तो विकल्प रूप है। विकल्प तो चित्त से होता है। चित्त के रहते यह प्रमाता किस प्रकार शिव से अभिन्न होकर स्थित हो सकता है। ऐसी शंका करके चित्त क्या है, इसका निर्णय करने के लिये इस सूत्र को कहते हैं—

**सूत्र ५** — चेतन स्थिति से अर्थात् विमर्श से हटी हुई चिति भगवती ही चेत्य अर्थात् विषय द्वारा संकुचित होकर चित्त कहलाती है।

अथवा यों कहें कि चिति ही चैतन्य पद से उत्तर कर चेत्य से संकुचित होने के कारण चित्त कहलाती है। चित्त नाम की ओर कोई दूसरी वस्तु नहीं है यह स्वयं चिति भगवती ही है। चित्त नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि वही संविद् भगवती चित्त है। संवित् इस प्रकार चित्त बनती है कि वह अपने स्वरूप को छिपाकर, दबाकर जब संकोच ग्रहण करती है, तब दो अवस्थाएँ बनती हैं। कभी ऐसा होता है कि उल्लिसित अर्थात् उद्भूत संकोच को भी अप्रधान करके चित् प्राधान्य रूप से ही स्फुरित होती रहती है और कभी संकोच प्रधान रूप से स्फुरित होती है। चिति चित्त प्रधान रूप से स्फुरित होने पर भी स्वाभाविक प्रकाश रूप से स्फुरित होने पर विज्ञानाकल अवस्था वाले प्रमाता रूप से प्रकट होती है। प्रकाश के परामर्श प्रधान रूप होने पर विद्या की अवस्था वाले विद्या प्रमाता लोग होते हैं। वहां पर भी क्रम से संकोच कम हो जाने पर ईश्वर, सदाशिव, अनाश्रित शिव अर्थात् शून्यातिशून्य रूप होते हैं और समाधि प्रयत्न द्वारा चित् की प्रधानता होने पर शुद्धाध्वा प्रमाता की अवस्था क्रम से उत्कृष्ट होती चली जाती है अर्थात् विद्येश्वरता, ईश्वरता, सदाशिवता, शक्तिरूपता, शिवता की स्थिति प्राप्त होती है और संकोच की प्रधानता होने पर शून्य प्रमाता, बुद्धि प्रमाता आदि की सृष्टि होती है। ऐसी

स्थिति होने पर चित् ही संकुचित ग्राहक रूप होकर चेतन स्वरूप से नीचे जाकर और विषय के प्रति ग्रहणोन्मुखी बनकर चेत्य अर्थात् नील पीतादि रूप विषयों से विषय वाली बनकर संकुचित होने पर चित्त कहलाती है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में कहा गया कि विश्वात्मा भगवान् का अपना वह स्वरूप भूत चैतन्य जो सब जगह प्रकाश और विमर्श, वही इनका ज्ञान और क्रियाशक्ति रूप है। स्वरूप परामर्श को न त्यागते हुए जो भिन्न-भिन्न पदार्थों का विमर्श होता है, वह विमर्श भी स्वरूप में ही विश्रान्त रहता है और स्वरूप में ही ठहरता है। जिसका आकार अहम् इदम् ऐसा सदाशिव ईश्वर स्वरूप ही है। वही परमशिव की माया शक्ति है।

ये ज्ञान, क्रिया, माया शक्तियाँ भगवान् में स्वाभाविक हैं। स्वरूप का अपरिज्ञान होने पर जो भिन्न पदार्थों में ज्ञान और क्रिया होते हैं तथा स्वरूप परामर्श के बिना ही जो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता है, वही पशु का अप्रकाश रूप सुख, दुख और मोह लक्षण वाले तथा प्रकाश, क्रिया और नियमन स्वभाव वाले सत्त्व, रज और तम नाम के तीन गुण होते हैं।

### टिप्पणी-

पति अर्थात् परमशिव के अपने स्वरूप में ज्ञान और क्रिया तथा माया नामक तीन शक्तियाँ ही पशु दशा में सत्त्व, रजस्, तमस् के रूप में प्रकट होती हैं इत्यादि कारिका में यह बतलाया गया है कि स्वातन्त्र्य स्वभाव वाली भगवती शक्ति असंकुचित दशा में ज्ञान क्रिया और माया रूप होती है, पशु दशा में अर्थात् आत्मनिग्रह के फल स्वरूप संकोच की दशा में संकोच के प्रकर्ष से क्रमशः सत्त्व रजस् और तमस् के रूप वाली होकर चित्त के रूप में स्फुरित होती है।

**वस्तुतः** जब यह चिति भगवती अपने स्वरूप को गोपन कर संकोच को ग्रहण करती है, तब उसकी दो गतियाँ होती हैं। कभी उदित हुए संकोच को गौण करके चिति की प्रधानता को लेकर स्फुरित होती है और कभी संकुचित रूप से प्रकट होती है। इस प्रकार चिति भगवती संकुचित ग्राहक रूप को ग्रहण कर चैतन्य पद से उतर कर पदार्थों के ग्रहण के लिये पदार्थों के सम्मुख होकर नील, पीत, सुख, दुख आदि से संकुचित रूप होकर चित्त कहलाती है अथवा दोनों ग्राहक और ग्राह्य के संकोच से संकुचितता-परिच्छिन्नता ही चित्त है।

शिव रूप होने के कारण अपने अंग रूप समस्त पदार्थों में ज्ञान क्रिया तथा माया तीनों शक्तियाँ शिव में पाई जाती हैं।

यह भी कहा गया है—कि स्वतन्त्र नाम वाली चिति शक्ति ही ज्ञान क्रिया शक्ति स्वरूप भी है और वही पशु दशा में अत्यधिक संकुचित हो जाने से सत्त्व, रज, तम स्वभाव वाले चित्त रूप से स्थित होती है। जब शिव में अणुत्व का उन्मेष होता है, तब जीव दशा प्राप्त होने पर सत्त्व गुण रजोगुण और तमोगुण इस जीव में पाये जाते हैं। इस सूत्र में यह सिद्ध किया गया है कि चिति भगवती जो ज्ञान-क्रिया और माया शक्ति से युक्त है, संकोच की अधिकता होने पर जीव दशा में सत्त्व-रजस् और तामस् रूप में विकसित होती है। यह बात ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में ‘तत्त्वसंग्रहाधिकार’ में कही गई है। विकल्प दशा के प्राप्त होने पर भी, अथवा जब शिव पशुरूप ग्रहण करते हैं तब भी शिवोचित्त स्वरूप ही प्रमाता का वास्तविक स्वभाव है। इसलिये श्रीतत्त्वगर्भस्तोत्र में भी कहा गया है विकल्प स्थिति में भी तात्त्विक रूप की सत्ता रहती है। इसी अभिप्रायः से कहा है कि जो लोग परमार्थ का अनुसरण करने वाले हैं उनका वहाँ पर अर्थात् विषय ग्रहण काल में अर्थात् संसारावस्था में भी स्वरूप प्रकाश का लोप नहीं होता है। अतः जो परमार्थ के अभिलाषी है, अथवा जिन्होंने उस परमार्थ तत्त्व को प्राप्त कर लिया है, उनका उस विकल्प दशा में भी आत्मस्वरूप का प्रकाश लुप्त नहीं होता है।

चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपम्—इत्याह  
तन्मयो माया प्रमाता ॥६॥

देहप्राणपदं तावत् चित्तप्रधानामेव; शून्यभूमिरपि चित्तसंस्कारवत्येव;  
अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभावः स्यात्; —इति चित्तमय  
एव मायीयः प्रमाता ॥ अमुनैव आशयेन शिवसूत्रेषु वस्तुवृत्तानुसरेण

चैतन्यमात्मा ( १-१ )

इत्यभिधाय मायाप्रमातृलक्षणावसरे पुनः

चित्तमात्मा ( ३-१ ) इत्युक्तम् ॥६॥

चित्त ही माया प्रमाता का रूप है। इस बात को कहने के लिए छठे सूत्र का निर्देश है।

चित्त प्रधान वाला जीव माया प्रमाता कहलाता है। देह प्रमाता एवं प्राण प्रमाता में तो चित्त की प्रधनता रहती ही है। शून्य भूमि अर्थात् शून्य प्रमाता भी चित्त के संस्कार से युक्त ही रहता है। यदि शून्य प्रमाता में चित्त का संस्कार न रहता, तो शून्य भूमि से उठने वाले अर्थात् सोकर उठने वाले अपने कर्तव्य का अनुसन्धान न करने से-अपने कर्तव्य को नहीं कर सकते। चित्त प्रधान वाला ही मायीय प्रमाता होता है। इसी अभिप्राय से शिवसूत्र के पहले सूत्र में वास्तविक रूप आत्मा को चैतन्य कहा गया है इसके पश्चात् माया प्रमाता का लक्षण बताते समय में “चित्त ही आत्मा है” यह कहा गया है।। अर्थात् देह और प्राण से आवृत होने पर चित्त का संस्कार सम्पूर्ण रूप से विलुप्त नहीं होता।। शून्य भूमि से जागृत हुए प्रमाता अपने-अपने करने योग्य कर्मों की ओर दौड़ते हैं इसीलिये चित्त ही जीव का स्वरूप है। इस आशय से शिवसूत्र में परमार्थिक वस्तु अथवा सत्य का निरूपण करते हुए कहा गया है “आत्मा चैतन्य है” अथवा “चेतनता ही आत्मा है”। माया प्रमाता अर्थात् चित्त के लक्षण को कहते समय पुनः कहा है “चित्त ही आत्मा है”।

अस्यैव सम्यक् स्वरूपज्ञानात् यतो मुक्तिः, असम्यक् तु संसारः, ततः  
तिलश एतत्स्वरूपं निर्भड्क्तुमाह

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चक स्वभावः ॥७॥

निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव ‘एक’ आत्मा, न तु अन्यः कश्चित्;  
प्रकाशस्य देशकालादिभिः भेदायोगात्; जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः। प्रकाश  
एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादिसंकोचः संकुचितार्थग्राहकतामशनुते, ततः  
असौ प्रकाशरूपत्वसंकोचावभासवत्त्वाभ्यां ‘द्विरूपः’।  
आणाव-मायीय-कार्ममलावृत्त्वात् ‘त्रिमयः’।  
शून्य-प्राण-पुरुष्टकशरीरस्वभावत्वात् ‘चतुरात्मा’। ‘सप्तपञ्चकानि’  
—शिवादिपृथिव्यन्तानि पञ्चत्रिंशतत्त्वानि ‘तत्स्वभावः’। तथा  
शिवादि-सकलान्त प्रमातृसप्तकस्वरूपः; चिदानन्देच्छा-ज्ञान-  
क्रियाशक्तिरूपत्वेऽपि अख्यातिवशात् कला-विद्या-राग-काल-नियति

कञ्चुकवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः। एवं च शिवैकरूपत्वेन, पञ्चत्रिंशतत्त्वमयत्वेन, प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादिशक्ति-पञ्चकात्मकत्वेन च अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः; अन्यथा तु संसार हेतुः ॥७॥

जिस हेतु से इस प्रकाश रूप चेतन का सही ज्ञान होने से मुक्ति होती है और ठीक-ठीक ज्ञान न होने से संसारी बन्धन होता है उसके स्वरूप को भिन्न-भिन्न करके कहते हैं-

सत्य-यथार्थ ज्ञान से जिस प्रकार मुक्ति सम्भव है उसी प्रकार असत्यमिथ्या ज्ञान से संसार सम्भव है। उसका स्वरूप विश्लेषण से निरूपण करने के लिये सूत्र कहा है-

**सूत्र ७** - वह शिव एक है, दो रूप है, तीनमय है, और चार रूप वाला है, सप्तपंचक रूप वाला है अर्थात् पैंतीस स्वभाव वाला है।

### टिप्पणी-

इससे सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रकाशरूप परमात्मा सर्वदा निज स्वरूप में रह कर अपने स्वातन्त्र्य के बल द्वारा अनन्त रूपों में स्फुरित होता है ॥

पूर्व निर्णय के अनुसार भगवान शिव चिदात्मा ही एक आत्मा है अन्य कोई नहीं है। प्रकाश रूप आत्मा का देशकाल आदि द्वारा भेद हो ही नहीं सकता है। जड़ तो ग्राहक हो ही नहीं सकता है। चित् प्रकाश अपनी स्वतन्त्रता से प्राणादि रूप बन का संकुचित वस्तु की ग्राहकता को प्राप्त करता है। इसलिये यह चिदात्मा प्रकाशरूपता को और संकोचावभासन को ग्रहण करने से दो रूप वाला होता है। एवं आणव, मायीय और कार्म मल इन तीन मलों से आवृत होने के कारण तीनमय है ॥ तथा शून्य, प्राण, बुद्धि आदि के समूह रूप पुर्यष्टक तथा शरीर स्वभाव वाले होने से चार रूप हैं। उसके साथ ही सप्तपंचक अर्थात् पैंतीस होने से शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त पैंतीस रूपमय है। छत्तीसवाँ तो स्वयं शिव ही है।

एवं (१) शिव (२) मन्त्रमहेश्वर (३) मन्त्रेश्वर (४) मन्त्र (५) विज्ञानाकल (६) प्रलयाकल तथा (७) सकल नाम वाले सात प्रमाता रूप वाला है, तथा चित्

आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया के रहने पर भी अख्याति के बल से कला, विद्या, राग, काल, नियति रूप कंचुक से आवृत होने के कारण पाँच रूप वाला है। इस प्रकार से एक रूप अर्थात् शिव रूप से ३५ तत्त्व रूप से प्रमाता सप्त स्वभाव वाले रूप से और चिदादि पाँच शक्तिमय रूप से प्रत्यभिज्ञात चिदरूप आत्मा मुक्ति को देता है अर्थात् इन रूपों से अज्ञात आत्मा संसार का हेतु हो जाता है अर्थात् बन्धनमय हो जाता है।

### टिप्पणी-

पूर्व निर्णय के अनुसार चैतन्य रूप शिव भट्टारक ही एक आत्मा है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। देशकालादि के द्वारा प्रकाश का भेद नहीं हो सकता। प्रमेय वर्ग जड़ होने के कारण ग्राहक बनने के योग्य नहीं है। जड़ वस्तु प्रमाता को जानने में समर्थ नहीं हो सकती। प्रकाश अपने स्वातन्त्र के बल से संकुचित होकर प्राण आदि को ग्रहण करता है। ग्रहण करने पर भी उसमें कुछ न्यूनता नहीं आती। वह ज्यों का त्यों ही बना रहता हैं संकोच युक्त प्रमातृता को ग्रहण कर पूर्ण प्रकाश रूप वाला शिव भट्टारक दो रूपों में स्फुरित होता है।

आणव-मायीय-और कार्ममल से आवृत हुआ यह शिव तीन रूपों में परिणत होता है।

शून्य-प्राण-पुर्यष्टक तथा स्थूल शरीर को अंगीकार कर यह चार स्वरूप धरण करता है।

सप्त पञ्चक अथवा पैंतीस तत्त्व-पृथ्वी तत्त्व से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त-उसका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त शिव से लेकर सकल तक प्रमाता सात स्वरूपों से युक्त होता है॥

चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों से युक्त वह शिव अज्ञान को ग्रहण करने से कला-विद्या-राग-काल और नियति रूप कवचों से आवृत होने के कारण इसे पञ्चकञ्चुक में सीमित होना पड़ता है अर्थात् इस प्रकार जब यह ज्ञान हो जाता है कि शिव एक रूप होते हुए भी पैंतीस रूपों में प्रकट होता है, तभी वह मुक्ति को देने वाला होता है। ऐसा न जानने पर यह संसार का कारण बनता

है । । अतः यह शिव ही पैंतीस तत्त्वों के रूप में प्रकट हुआ है । ऐसा ज्ञान होना ही मुक्ति का हेतु है । इन सब तत्त्वों को शिव से भिन्न जानना ही संसार में बन्धन का कारण है ।

एवं च

तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ॥८॥

सर्वेषां चार्वकादिदर्शनानां “स्थितयः” – सिद्धान्ताः ‘तस्य’ एतस्य आत्मनो न टस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा ‘भूमिकाः’ । । तथा च

चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा –

इति चर्वाकाः ।

नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गं तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम् । ।

अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा-इति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः । ।

ज्ञानसंतान एव तत्त्वम्-इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः । ।

प्राण एव आत्मा-इति केचित् श्रुत्यन्तविदः ।

असदेव इदमासीत्-इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः । माध्यमिका अपि एवमेव ।

परा प्रकृतिः भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवा-इति पाञ्चरात्राः परस्या प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः ।

सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिमवलम्बन्ते ।

सदेव इदमग्र आसीत्-इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः । । शब्दब्रह्मयं पश्यन्तीरुपम् आत्मतत्त्वम् इति-वैयाकरणाः

श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः । एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम् । एतच्च आगमेषु

बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेर्वाहिताः स्थिताः ।

स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥

इत्यादिना निरूपितम् ।

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम्—इति तात्रिकाः ।

विश्वमयम् इति—कुलाद्याम्नायनिविष्टाः ।

विश्वोत्तीर्ण विश्वमयं च—इति त्रिकादिदर्शनविदः ॥

एवम् एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्य प्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः । अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा । मितदृष्ट्यस्तु अंशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः । येन देहादिषु भूमिषु पूर्व-पूर्वप्रमातृव्याप्तिसारताप्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते । यथोक्तम्—

‘वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद्विद्यारागेण रञ्जिताः ।

न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम् ॥’ इति ॥ तथा—

‘भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया’ । इति

‘त आत्मोपासका शैवं न गच्छन्ति परं पदम् ॥’ इति च

अपि च सर्वेषां दर्शनानां—समस्तानां नीलसुखादिज्ञानानां याः ‘स्थितयः’—अन्तर्मुखरूपा विश्रान्तयः ताः ‘तद्भूमिकाः’—चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूपाभिव्यक्त्युपायाः । तथा हि यदा यदा बहिर्मुखं रूपं स्वरूपे विश्राम्यति, तदा तदा बाह्यवस्तूपसंहारः, अन्तः प्रशान्तपदावस्थितिः; तत्तदुद्यत्संवित्संतत्यासूत्रणम्; इति सृष्टि-स्थिति-संहार मेलनारूपा इयं तुरीया सांविद्भट्टारिका तत्तसृष्टयादि भेदान् उद्वमन्ती संहरन्ती च, सदा पूर्णा च, कृशा च, उभयरूपा च अनुभयात्मा च, अक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता । उक्तं च श्रीप्रत्यभिज्ञाटीकायाम् ‘तावदर्थावलेहेन उत्तष्ठिति, पूर्णा च भवति’—इति । एषा च भट्टारिका क्रमात्क्रमम् अधिकमनुशील्यमाना स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम् ॥८॥

अतः-

चार्वाकादि सब दार्शनिकों की स्थितियाँ अर्थात् सिद्धान्त इस आत्मा की ही अपनी इच्छा से ग्रहण की हुई कृत्रिम भूमिकाएँ हैं।

### शब्दार्थ:-

जैसे नटराज चोर आदि की भूमिकाएँ अपनी इच्छा से ही ग्रहण करता है। चार्वाक् अर्थात् नास्तिक जो परलोक, पुनर्जन्म आदि को नहीं मानते हैं, वे चैतन्य वाले शरीर को ही आत्मा कहते हैं। नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान, इच्छा, आदि गुणों के आधार बुद्धित्व के जैसे पदार्थ को संसार दशा में आत्मा मानते हैं। मोक्ष होने पर उन गुणों के दूर हो जाने पर शून्य रूप को ही वे आत्मा मानते हैं। अहम् ज्ञान का विषय सुख दुख आदि उपाधियों से ढका हुआ आत्मा होता है=ऐसा मानने वाले मीमांसक लोग भी बुद्धि में ही आत्मा का आग्रह रखते हैं।

ज्ञान संतान ही तत्त्व है इस तरह कहते हुए सौगत (बौद्ध भी बुद्धि में ही ठहरे हैं।) प्राण ही आत्मा है, ऐसा कई उपनिषद् जानने वाले कहते हैं। ‘-असदेव इदमासीत्-सब कुछ पहले असत् ही था इस वेदोक्ति के अनुसार अभाव को ही ब्रह्म कहते हुए कुछ वेदान्ती शून्य दशा का ही अनुभव करके उसी में ठहरे रहते हैं। माध्यमिक बौद्ध भी इसी तरह कहते हैं कि शून्य ही ब्रह्म है। पांचरात्र शास्त्र वाले वैष्णव लोग मानते हैं कि पराप्रकृति ही भगवान् वासुदेव हैं। उन्हीं के विस्फुलिङ्ग जैसे जीव हैं। इससे पराप्रकृति का परिणाम स्वीकार करने से अव्यक्त को ही आत्मा मानते हैं।

सांख्य और योग वाले तो विज्ञानाकल जैसी भूमिका का आसरा लेते हैं।

सदैव इदमग्रासीत्-यह सब पहले सत् ही था-इस उपनिषद् के मत से कुछ वेदान्ती ईश्वर तत्त्व को ही आत्मस्वरूप मानकर बैठे हैं। वैयाकरण लोग आत्म तत्त्व को शब्द ब्रह्मय पश्यन्ती रूप मानते हैं। वे लोग सदाशिव को ही आत्मा माने हुए हैं। इसी प्रकार दूसरे मतवादियों को भी समझना चाहिए। इसी बात को आगम में भी कहा है कि बुद्धि तत्त्व में बौद्ध लोग ठहरे हैं और अर्हत जो जैन हैं वे गुण तत्त्व में स्थित हैं। वेदविद् लोग पुरुषतत्त्व में स्थित हैं और पांचरात्र वाले वैष्णव लोग अव्यक्त में स्थित हैं-इत्यादि वचनों द्वारा कहा गया है। तांत्रिक लोग, विश्व से उत्तीर्ण होकर आत्मतत्त्व है ऐसा मानते हैं। विश्वमय ही आत्म तत्त्व है ऐसा

कौल लोग मानते हैं। त्रिकर्दर्शनविद् कहते हैं कि आत्मा विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण है।

इस प्रकार से एक ही चिदात्मा भगवान् के अपने स्वातन्त्र्य से प्रकाशित पूर्वोक्त सब भूमिकाएँ हैं, जो कि स्वातन्त्र्य के ढकने और फिर से उसके प्रकट करने के तारतम्य भाव के रूप में विद्यमान हैं; अर्थात् इनमें स्वातन्त्र्य का तिरोधान और प्रकाशन कम ज्यादा है। अतः एक ही आत्मा पूर्वोक्त सब स्थितियों का व्यापक है। उस चिदात्मा की इच्छा से ही परिमित प्राणियों का आत्मभिमान अंश अंश में ही ठहराया गया है। वे लोग परिमित दृष्टि वाले हैं। वे लोग क्रमिक देह आदि में आत्मतत्त्व देखते हुए भी महाब्याप्ति को अर्थात् सर्वव्याप्त आत्मतत्त्व को परशक्तिपात के अभाव में समझ नहीं पाते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र में भी कहा गया है, विद्या के राग से रंजित जो अन्य लोग हैं, वे लोग सर्वज्ञ ज्ञानशाली परमदेव को नहीं जानते हैं। और भी कहा है कि उन लोगों को अमोक्ष में ही मोक्ष की लालसा से माया घुमाती रहती है। और कहा है कि आत्मा के उपासक वे लोग शैव परम पद को प्राप्त नहीं करते हैं। इति ।

इस सूत्र का यह अर्थ भी होता है कि सब दर्शनों की अर्थात् समस्त नील, पीत, सुख आदि ज्ञानों की जो स्थितियाँ अर्थात् अन्तर्मुख रूप विश्रान्तियाँ हैं वह सब की सब तत्त्व भूमिका अर्थात् चिदानन्दघन अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के उपाय हैं। क्योंकि जब-जब बहिर्मुख रूप फिर से स्वरूप में विश्रान्ति लेता है तब-तब बाहर की वस्तुओं का उपसंहार अर्थात् अपने भीतर लय ही हो जाता है और अन्तः प्रशान्त पद में स्थिति हो जाती है। फिर पुनः-पुनः उदित होने वाले ज्ञानों की संतति के क्रम का प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि स्थिति संहार की मिश्रितरूपा जो यह तुरीया संवित् देवी है वही उन-उन सृष्टि आदि भेदों को उगलती हुई-एवं आत्मसात करती हुई-सदा ही पूर्णरूपा भी बनी रहती है और सदा ही कृशा अर्थात् दुबली भी बनी रहती है। दोनों रूपों से भी रहती है और दोनों रूपों के बिना भी रहती है। क्रम के बिना ही अक्रम से ही सृष्टि संहार आदि रूप से चमकती रहती है। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा-टीका में कहा है-अर्थों को-पदार्थों को ग्रहण करने की लीला से संविद् उठ-खड़ी होती है और पूर्ण हो जाती है। यह संविद् भगवती क्रम-क्रम से अधिक जब अनुशीलन की जाती है तो भक्त लोगों

को अपने स्वरूप के साथ एक बना लेती है अर्थात् संविद के उपासक लोग संविद्रूप आत्म तत्व को पा लेते हैं।

**टिप्पणी**—चार्वाकादि वादियों से स्वीकृति निर्णय के अनुसार इसकी कृत्रिम भूमिकाएँ अपनी स्वतन्त्रता से ग्रहण की हुई नाटक के पात्रों की भूमिकाओं की न्याई है; अर्थात् जितने चार्वाकादि दार्शनिक हैं तथा उनके जितने सिद्धान्त हैं। उन्हें आत्मा ने अपनी ही इच्छा द्वारा लीला के रूप में स्वीकार किया है; जैसे कि नट अपनी ही इच्छा से नाटक रच कर भिन्न-भिन्न पात्रों का नाट्य स्वीकार करता है। इस प्रकार चार्वाक मानते हैं कि शरीर आत्मा से अभिन्न है अर्थात् जीवित शरीर अथवा चैतन्यता से युक्त शरीर ही आत्मा है।

नैयायिक तो ज्ञान आदि गुणों (अर्थात् ज्ञान, सुख, दुख, इच्छा द्वेष, धर्म, अधर्म संस्कार के आश्रय को ही आत्मा समझते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा संसारिक दशा में ज्ञान आदि गुणों के आश्रयभूत बुद्धि जैसा ही है और मुक्त होने पर जब बुद्धि लुप्त हो जाती है, वह शून्य जैसा हो जाता है।

सुख-दुख आदि उपाधियों से परिच्छिन्न अहम् भाव का ज्ञान ही आत्मा है ऐसा मानने वाले मीमांसक भी बुद्धि तक ही सीमित हैं अर्थात् मीमांसक भी बुद्धि तत्त्व तक ही पहुंचे हैं अतः सुख दुख मोह आदि की प्रतीति ही अहम्-भाव का स्वरूप है ऐसा मानते हैं।

बौद्धमत के अनुयायी भी बुद्धि तत्त्व तक ही सीमित हैं और ऐसा मानते हैं कि प्रवाह रूप ज्ञान ही केवल आत्मा का स्वरूप है।

कुछ वेदान्ती ऐसा मानते हैं कि प्राण ही आत्मा है। ब्रह्मवादियों का विश्वास है कि पूर्व में कुछ भी नहीं था। वे शून्य से ही जगत की उत्पत्ति का मूल सिद्धान्त मानते हैं। माध्यमिक बौद्ध भी ऐसा ही मानते हैं।

पांचरात्र (वैष्णव) ऐसा मानते हैं कि भगवान् वासुदेव ही परा प्रकृति हैं, और जीव उसकी चिनगारियों जैसे हैं। इस प्रकार भगवान् वासुदेव को ही इन सब का उद्गम स्थान मानते हैं। सांख्य आदि विज्ञानाकल भूमि को ही आत्मा मानते हैं।। अन्य वेदान्ती मानते हैं कि सत् ही केवल आरम्भ में था। अतः वे ईश्वरतत्त्व पर ही स्थित हैं। सदाशिव पद तक आरूढ़ वैयाकरणों के अनुसार शब्दब्रह्म ही आत्मा है।

वे पश्यन्ती (पर शब्द) रूप को ही आत्म-तत्त्व का स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार दूसरे मतवाले भी विश्वास करते हैं। इस बात को आगम में इस प्रकार कहा है।

बौद्ध बुद्धि तत्त्व को जैनी त्रिगुणात्मक तत्त्व को (क्षुब्धि प्रकृति को) वेदान्ती पुरुष तत्त्व को और वैष्णव अव्यक्त को ही अपना सिद्धान्त मानते हैं। तान्त्रिकों के मतानुसार आत्मा का स्वरूप विश्व से उत्तीर्ण है। कुलादि दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का स्वरूप विश्वमय है। त्रिक आदि दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का स्वरूप विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों ही है।

इस प्रकार एक चिदात्मा रूप भगवान् इन सब नाना प्रकार की लीलाओं को अपनी स्वतन्त्र शक्ति द्वारा ही प्रकट करते हैं और इनकी क्रीडाओं में भेद का कारण उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा ही अवभासित होता है। कभी वह भगवान् अपने स्वरूप वो प्रच्छादन करता है और कभी प्रकट करता है इस प्रकार एक ही आत्मा सब में व्याप्त है।

इन सम्पूर्ण लीलाभिनयों के करते हुए भी वह ज्यों का त्यों लीलातीत है परिमित दृष्टिकोण वाले उस भगवान की इच्छा द्वारा उस पूर्ण तत्त्व के अंशों पर ही अपने अभिमान को ठहराया करते हैं। देहादि सीमित दशा में ही जिन्हें प्रमातृता प्राप्त है उनके लिये-परदशा में महाव्याप्ति का अनुभव, पर शक्तिपात के बिना नहीं हो सकता जैसा कि कहा है-

अन्य देवताओं के भक्त जो कि अविद्या और राग में रंगे हुए हैं, वह सर्वत्र ज्ञान से सुशोभित परम देव को प्राप्त नहीं करते। इसी प्रकार जो अमोक्ष में ही मोक्ष की अभिलाषा करते हैं माया उन्हें संसार में भटकाती है।

उसी प्रकार परिमित आत्मा की उपासना करने वाले शैवों के परमपद को प्राप्त नहीं होते हैं।

अब इस सूत्र की दूसरे ढंग से व्याख्या करते हैं-

दर्शन केवल ज्ञान ही है, तत्त्व ज्ञान नहीं। स्थिति केवल विश्रान्ति स्थल नहीं, अपितु अन्तर्मुख स्वरूप में पूर्ण विश्रान्ति है। यह समस्त नील पीत आदि बाह्य पदार्थ और सुख दुख आदि अन्तरिक-आभ्यान्तर-पदार्थ वर्ग ही उस चिदानन्दघन

स्वरूप के प्रकट होने के कारण बने हुए हैं अर्थात् इनके द्वारा ही स्वरूप में पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति प्राप्त होती है। बाह्य विषय वर्ग जब लय होने के समुख होते हैं—तब प्रमाता अन्तर्मुख स्थिति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् परमचिदानन्द भूमि में प्रविष्ट होते हैं और बाह्य के समस्त वस्तु वर्ग का उपसंहार हो जाता है। अन्त में शान्त पदवी में स्थिति लाभ होता है। यही परम तुरीया स्थिति कहलाती है। इसी प्रकार बारम्बार अन्तर से बाह्य और बाह्य से अभ्यन्तर-अन्तर-क्रम द्वारा चित् शक्ति ही इस क्रम को मुद्रित करती है। इसी को इसका सृष्टि, स्थिति और संहार क्रम कहते हैं।

इस प्रकार सृष्टि-स्थिति और संहार रूपा यह तुरीया संवित् भगवती उन सृष्टि तथा संहार इत्यादि भेदों को मुद्रित करती हुई निरन्तर पूर्ण भी, कृश भी और दोनों पूर्ण तथा कृश भी और न पूर्ण और न कृश भी आक्रम से ही विकसित हुई स्थित है, ऐसा प्रत्यभिज्ञा की टीका में कहा गया है।

भगवती द्वारा यह बाह्य और अभ्यन्तर क्रम अधिक से अधिक अभ्यास में लाए जाने पर ही यह भक्त जनों को स्वात्मा में लय करती है। ॥८॥

यदि एवंभूतस्य आत्मनो विभूतिः, तत् कथम् अयं मलावृतः अणु कलादिवलितः संसारी अभिधीयते?—इत्याह-

चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी ॥६॥

यदा 'चिदात्मा' परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्जय भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा 'तदीया इच्छादिशक्तयः' असंकुचिता अपि 'संकोचवत्यो' भान्ति; तदानीमेव च अयं 'मलावृतः संसारी' भवति। तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णमन्यतारूपम् आणवं मलम्; ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्जित्वाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्त संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्; क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप-संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमितां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्म मलम्। तथा

सर्वकर्तृत्व—सर्वज्ञत्व—पूर्णत्व—नित्यत्व—व्यापकत्वशक्तयः संकोचं गृहणाना यथाक्रमं कला—विद्या—राग—काल नियतिरूपतयाभान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते; स्वशक्तिविकासे तु शिव एव॥६॥

यदि ऐसी पराप्रकृति रूपा बनी हुई आत्मा की यह विभूति है, तो किस प्रकार से और क्यों यह आत्मा माया से ढका हुआ क्षुद्र जीव बना हुआ, कला इत्यादि से आवृत्त संसारी कहा जाता है।

### टिप्पणी-

अथवा जबकि पूर्वोक्त प्रकार से कही गई अद्भुत विभूति आत्मा में है, तब कैसे यह मल से आवृत हो जाता है, अर्थात् ढक जाता है, और अणु बन जाता है और कला आदि कंचुकों से वेष्टित होकर अर्थात् घिर जाने से संसारी कहा जाता है; इस शंका-प्रश्न-के उत्तर में सूत्र कहता है-

### सूत्र ६ शब्दार्थ—

जिस प्रकार से चिदात्मा संकुचित होकर चित्त बन जाता है, उसी प्रकार उसकी शक्ति के संकुचित हो जाने से वह मलावृत्त हो जाता है और संसारी हो जाता है।

इसी बात को टीका में स्पष्ट करके कहते हैं—

जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य इच्छा से ही अपनी अभेद व्याप्ति को छिपा कर अर्थात् उसका तिरोधान करके भेद व्याप्ति को ग्रहण करता है, तब उसकी इच्छा आदि शक्तियाँ भी असंकुचित भाव से संकुचित होकर प्रकाशित होती हैं। तभी यह चिदात्मा मल से आवृत होकर संसारी बन जाता है क्योंकि अप्रतिहत स्वातन्त्र्य स्वरूपा इच्छा शक्ति के संकुचित हो जाने से अपूर्णमन्यता रूप आणव मल बन जाता है। ज्ञान शक्ति भी क्रम से संकुचित हो जाती है तो भेद में ही सर्वज्ञता के किंचितज्ञत्व रूप से परिणित हो जाने से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रय रूप बन कर अत्यन्त संकोच शील होकर भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान रूप मायीय मल बन जाती है। क्रिया शक्ति भी भेदभाव में

सर्वकर्तृता का त्याग कर किंचित् कर्तृता को अर्थात् कुछ थोड़ा ही कर सकने के रूप को धारण करती हुई कर्मेन्द्रियों के रूप में संकुचित होकर अतीव परिमित बनी हुई पुण्यपाप रूप कार्ममल बन जाती है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व जो शक्तियाँ हैं वे सब भी संकोच ग्रहण कर लेती हैं और क्रम से कला विद्या राग काल और नियति रूप से अवभासित होती हैं। तब यह चिदात्मा शक्ति दग्ध हो जाती है अथवा संसारी कहलाने लगती है। पुनः अपनी शक्ति के विकसित हो जाने पर तो वह शिव ही है या हो जाता है।

अर्थात् यदि ऐसी पराप्रकृति रूप बनी हुई आत्मा की यह विभूति है तो किस प्रकार और क्यों यह शिव माया से ढका हुआ, जीव बना हुआ कला इत्यादि से आवृत संसारी कहा जाता है?

**टिप्पणी—** इस प्रश्न के उत्तर में यह सूत्र कहता है—भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा संकोच को ग्रहण कर मल से ढका हुआ संसारी कहा जाता है। इस बात को टीका में स्पष्ट करके प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अभेद दशा को छिपा कर भेद दशा को ग्रहण करता है, तब उसी शिव की इच्छा आदि शक्तियाँ जो असंकुचित हैं वह परिपूर्ण होती हुई भी संकोच को ग्रहण करती हैं; उस समय ही वह शिव मल से ढका हुआ संसारी कहा जाता है। इस बात को ऐसे कहते हैं कि परिपूर्ण स्वातन्त्र्यरूप इच्छा शक्ति के संकुचित होने पर अर्थात् उसे अपूर्णता का भान जब होता है तब वह आणव मल का बोध कराती है। सर्वज्ञ होने पर भी भेद दशा को प्राप्त होने पर धीरे-धीरे कुछ सीमित वस्तुओं को ही जानने वाली रह जाती है। अन्तःकरण, बुद्धि, मन और अहंकार और पाँच इन्द्रियाँ कान त्वचा नेत्र जिह्वा और नासिका के रूप को प्राप्त करके अत्यन्त संकोच को ग्रहण करने से भिन्न-भिन्न जानने योग्य पदार्थों के ज्ञान के कारण मायीय मल को प्राप्त होती है। क्रिया शक्ति क्रम से भेद दशा में सर्वकर्तृता-शक्ति होती हुई भी क्षीण हो जाती है और धीरे-धीरे परिमित सामर्थ्य वाले कर्मेन्द्रियों के रूप में प्रकट होकर संकोच को ग्रहण करती है। इस प्रकार अत्यन्त परिमित दशा को प्राप्त होकर शुभ और अशुभ कर्मों द्वारा कार्ममल के रूप

को प्राप्त करती है। वैसे ही परिमित दशा को प्राप्त होने पर यह शक्तियां-सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्यता और व्यापकता के स्थान पर संकोच को ग्रहण करके क्रम से कला-विद्या-राग-काल-नियति रूप से प्रकट हुई दिखाई देती हैं। इसी प्रकार यह शिव शक्तियों के संकुचित होने पर संसारी-लौकिक कहा जाता है और अपनी शक्तियों के विकसित होने पर पुनः शिव बन जाता है। ॥६॥

ननु संसार्यवस्थायाम् अस्य किंचित् शिवतोचितम् अभिज्ञानमस्ति येन  
शिव एव तथावस्थितः? – इत्युद्घोष्यते। अस्ति इत्याह-

तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ॥१०॥

इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः, यत्  
'सृष्टि संहार कर्तारं विलयस्थितिकारकम्।  
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्॥'

इति श्रीमत्स्वच्छन्दादिशासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः। यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्पन्दारणक्रमेण स्वरूपविकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति, 'तथा' संकुचितचिच्छक्तितया संसार भूमिकायामपि 'पञ्चकृत्यानि' विधत्ते। तथा हि

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।  
भान्तमेवान्तरर्थोघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥'

इति प्रत्यभिज्ञाकारिकोक्तार्थदृष्ट्या देहप्राणादिपदम् आविशन् चिदूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकर्मर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदानियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्नष्टृता; अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशेस्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुगृहीतृता। यथा च सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवतः, तथा मया वितत्य स्पन्दसन्दोहे निर्णीतम्॥

एवमिदं पञ्चविध कृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढ़प्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यम् उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम्। अतएव ये सदा एतत्

परिशीलयन्ति, ते स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता—इत्याम्नाताः ।  
ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः ॥१०॥

अब शंका होती है कि जब जीव को शिव कहते हैं तो संसारी अवस्था में शिवता का परिचायक क्या है जिससे इस बात का ज्ञान रहे कि शिव ही संसारी बना हुआ है । दूसरे शब्दों में शंका होती है कि संसारी अवस्था में भी इस शिव में क्या कुछ शिवत्व के लक्षण पाये जाते हैं, जिनसे अनुमान किया जा सके कि शिव ही पशु दशा में स्थित है, तो उत्तर है हाँ । यही सूत्र द्वारा कहा गया है—

**सूत्र १० - तथापि संसारी होने पर भी शिव के समान ही जीव भी पंचकृत्य करता है ।**

दूसरे शब्दों में—अर्थात् जीव दशा में भी वह शिव की न्याई पाँच कृत्य करता है । इसी को दिखाने के लिये टीकाकार कहते हैं कि—इस ईश्वराद्वय दर्शन की ब्रह्मवादियों से यही विशेषता है कि पंच विधि कृत्यों का कर्तृत्व सदैव रहता है, जैसा स्वच्छन्दशास्त्र में कहा है कि सृष्टि-संहार को करने वाले एवं विलय के करने वाले तथा अनुग्रह करने वाले शरण में अपने वालों के दुख का नाश करने वाले देव को नमस्कार करता हूँ । इससे स्पष्ट ही चिदात्मा भगवान् सदा पंचविधि कृत्य के विधायक कहे गए हैं । जीवावस्था में कैसे पंचविधि कृत्य का विधान करते हैं । इस बात को स्पष्ट रूप से दिखाते हैं । जैसे भगवान् शिव शुद्धाध्वा एवं अशुद्धाध्वा के विस्तार से स्वरूप विकास रूप सृष्टि आदि को करते हैं, वैसे ही चित् शक्ति के संकुचित होने पर, संसारावस्था में भी पंचकृत्य करते हैं । क्योंकि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की कारिका में कहा है—व्यवहारावस्था में भी प्रभुशिव देहादि मैं प्रवेश करता हुआ अर्थात् शरीर युक्त होता हुआ भी अपने भीतर प्रकाशमान वस्तुओं को अपनी इच्छा से बाहर भी प्रकाशित करता है । टीकाकार इसका अर्थ ऐसा कहते हैं कि देह प्राण आदि स्थिति को स्वीकार करता हुआ भी चिदरूप महेश्वर बहिर्मुख होने पर नील पीत आदि जो अर्थ हैं—वस्तुएँ हैं—उनको नियत देश काल आदि रूप से जब प्रकाशित करता है, तब नियत देश काल के आभासन के अंश का यह स्थान बनता है और अन्य देश काल के आभास का अपोहन करता है । इसलिये उस अंश के संहर्ता बनता है । एवं नीलादि वस्तु के आभास से अंश का स्थापक बनता है । अपने से भिन्न का आभासन करता है, इसलिये विलयकारी

बनता है। अर्थात् अपने आपको ढकता है। फिर शक्तिपात द्वारा अपने स्वरूप प्रकाश से अभिन्नरूपेण वस्तु को यदि प्रकाशित करता है, तो अनुग्रहकारी बनता है। इस प्रकार पंचविध कृत्यकारी है। भगवान् कैसे सदा पंचविध कृत्यकारी होता है, इस बात को मैंने स्पन्दसंदोह में स्पष्ट किया है। इस प्रकार से अपनी पंचविध कृत्यकारिता को सदैव दृढ़ निश्चय द्वारा जो भक्तिमान् पुरुष परिशीलन करता रहता है, उसको अपना महेश्वर-स्वभाव प्रकट हो जाता है। इसलिये जो पुरुष इसके परिशीलनशील होते हैं, वे संसार को अपने स्वरूप विकासमय जानते हुए सदैव जीवनमुक्त ही कहे जाते हैं और जो लोग परिशीलनशील नहीं होते, वे लोग अपने से भिन्न तथा परस्पर भिन्न पदार्थों को देखते रहते हैं, अतः बद्ध कहे जाते हैं।

### टिप्पणी-

यहां ईश्वराद्वय दर्शन का ब्रह्मवादियों से इतना भेद है कि सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह के कर्ता तथा शरण में आए हुए भक्तों की पीड़ा का नाश करने वाले देव आगम शास्त्रों अथवा श्रीमतु स्वच्छन्द आदि शास्त्रों के अनुसार श्री भगवान् सदा पञ्चकृत्यों में निरत रहते हैं। यह ही उनके नित्य कृत्य हैं। जिस प्रकार भगवान् बाह्य पदार्थों के विकास के क्रम द्वारा सृष्टि इत्यादिपंचकृत्य करता है—जो उसके वास्तविक स्वभाव का ही विकास है, उसी प्रकार संकुचित शक्ति द्वारा संसारी अवस्था में भी पञ्चकृत्य करता है। क्योंकि ऐसा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा आहनिक ६ सूत्र ७ में भी कहा है। ऐसी अवस्था होने पर व्यवहार काल में भी प्रभु देह आदि में प्रवेश करते हुए अभ्यन्तर भासमान पदार्थ को ही अपनी इच्छा द्वारा बाह्य अवस्था में प्रकट करते हैं। प्रत्यभिज्ञाकारिका की इस उक्ति के अनुसार जब भगवान् जो कि शिवत्व सम्पन्न हैं, देह प्राण आदि की अवस्था में प्रवेश करते हैं, अथवा जीव का स्वांग धारण कर कर्तृत्व भाव ग्रहण कर विभिन्न लोकों और देहों में संसारी बन कर विचरण करते हैं, नीलपीत आदि वस्तुओं के स्वभाव को ग्रहण करने पर भिन्न भिन्न प्रकार के देश और कालों में प्रकट होते हैं तथा नियत देश काल आदि में दिखाई देते हैं, तब नियत अथवा सीमित देश काल आदि किसी वस्तु में शिव की सृष्टि तथा दूसरे देश काल सीमित वस्तु में इस शिव की संहार दशा, नील पीत इत्यादि वस्तुओं में भासित होने पर उसकी स्थिति दशा, भेद ग्रस्त वस्तुओं में आभासित होने पर उसकी पिधान

दशा और प्रत्येक वस्तु में प्रकाश के संग स्फुटित होने पर इसकी अनुग्रह दशा का भान होता है।

पञ्चकृत्य करने का स्वभाव जैसे भगवान् का है, उसे मैंने विस्तारपूर्वक स्पन्दनिर्णय शास्त्र में कहा है।

इस प्रकार पञ्चकृत्यों को प्रतिक्षण अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए जो जानता और करता है तथा पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर उसे अभ्यास में लाता है, ऐसे भक्त को महेश्वर दशा का भान होता है॥ भक्तिमान् अथवा भक्तजन जो निरन्तर इन पञ्चकृत्यों के अभ्यास का परिशोलन करते हैं, वह चिति को जगत् रूप में विकसित हुई जानते हुए अथवा जगत् को स्वरूप का ही विकास समझते हुए जीवन मुक्त ही हैं। ऐसा शास्त्रों में कहा गया है॥

इसके विपरीत जो ऐसा नहीं जानते हैं और सब पदार्थ वर्गों को भिन्न-भिन्न रूप से देखते हैं वह सदा बन्धन युक्त रहते हैं।

### टिप्पणी-

पञ्चकृत्य का कर्ता वही भगवान है। वही इस विश्वनाटक का सूत्रधार है। वही अभिनेता है। दर्शक भी वही है। नाटक की रचना भी उन्होंने ही की है और अभिनय भी विभिन्न रूप धारण करते हुए वे कही करते हैं। स्वयं किये जा रहे अभिनय को विभिन्न रूपों में देखकर वे ही मुग्ध भी हो रहे हैं। इतना होने पर वे सब कुछ करते हुए कुछ भी नहीं करते और कुछ न करके भी सब क्रियाओं के एक मात्र कर्ता वे स्वयं ही हैं। यह पञ्चकृत्य उन्हीं का एक अंश है। उनमें अनन्त शक्तियाँ हैं। जब वह पशु का रूप धारण करते हैं, तब उनकी सब शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और उनको बद्धपशु के रूप में प्रकट करती है। उस समय शिव बन्धन में प्रकट होते हैं। परन्तु जब वह शिव रूप में विराजमान रहते हैं तब वह शक्तियाँ इन का सत्कार करती हैं एवं उनके शिवोचित रूप का भूषण बन जाती हैं।

**न च अयमेव प्रकारः पञ्चविधकृत्यकारित्वे, यावत् अन्योऽपि कश्चित् रहस्यरूपोऽस्ति ।—इत्याह ।**

आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन विलापनतस्तानि ॥११॥

‘पञ्चविधकृत्यानि करोति’ इति पूर्वतः सम्बध्यते। श्रीमन्महार्थदृष्ट्या दृगादि देवी प्रसरण क्रमेण यत् यत् आभाति, तत् तत् सृज्यते; तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषम् कंचित् कालं रज्यति, तदा स्थिति देव्या तत् स्थाप्यते; चमत्कारापरपर्यायविमर्शनसमये संहित्यते ॥ यथोक्तं, श्री रामेण-

‘समाधिवज्ञेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः ।  
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥’

इति यदा तु संहित्यमाणमपि एतत् अन्तः विचित्रशङ्कादि संस्कारम् आध चेत्, तदा तत् पुनः उद्भविष्यत्संसारबीजभावमापन्नं विलयपदम् अध्यारोपितम्। यदा पुनः तत् तथा अन्तः स्थापितम् अन्यत् वा अनुभूयमानमेव हठपाकक्रमेण अलंग्रासयुक्तया चिदग्निसाद्भावम् आपद्यते, तदा पूर्णतापादनेन अनुगृह्यते एव। ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा संनिहितमपि सद्गुरुपदेशं विना न प्रकाशते, इति सद्गुरुसपर्येव एतत्प्रथार्थम् अनुसर्तव्या ॥११॥

केवल पूर्वोक्त प्रकार से ही पञ्चविध कृत्य को नहीं करता है, किन्तु अन्य भी रहस्य रूप पञ्चविध कृत्यकारिता है। अर्थात् उपरोक्त पञ्चकृत्य करने का केवल यही एक प्रकार नहीं है, किन्तु दूसरा भी कोई रहस्य इसके अतिरिक्त है। उसको सूत्र द्वारा कहा है—

**सूत्र ११** — आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन के द्वारा भी पञ्चकृत्य करते हैं।

टीकाकार यहाँ पर कहते हैं पञ्चविधकृत्य करता है, इस वाक्य का पहले सूत्र से यहाँ सम्बन्ध जोड़ कर और आभासन आदि को स्पष्ट रूप से वर्णित करके कहते हैं कि श्रीमान् महारथशास्त्र में कथित दृगादि देवी अर्थाय नेत्रादि इन्द्रियों के फैलने पर जो देखने में आता है, उसी की सुष्ठि होती है। एवं इस तरह से जो उत्पन्न हुआ है, उसी में कुछ निमेष तक शान्त होकर रंजित होता हुआ वह पदार्थ को जानता है, तब स्थिति देवी द्वारा वह पदार्थ स्थापित होता है। एवं चमत्कारात्मक तथा चमत्कार नाम के विमर्श के समय में उसका संहार हो जाता है। जैसा कि श्री

रामकण्ठाचार्य ने स्पन्दनिर्णय में कहा है कि भेदमय पहाड़ अन्य लोगों के द्वारा समाधि रूप वज्र से भी नहीं तोड़ा जाता है, किन्तु आपकी भक्ति रूपी शक्ति वाले पुरुष जब उसका परामर्शन ही करते हैं तो उस भेदमय पहाड़ को नष्ट कर देते हैं। इति। जब नष्ट हुआ भी वह विषय अन्तःकरण में अनेक प्रकार की विचित्र शंकाओं के संस्कार का आधान करता है तब वह वहीं आगे होने वाले संसार का संस्कार बीजरूपता को प्राप्त कर विलय कहलाता है और जब फिर अन्तःकरण में स्थापित संस्कारों को या अनुभव काल में भी आए हुए दूसरे विषयों को दृढ़ पाक क्रम से अथवा अलंग्रास युक्ति द्वारा चिदरूप ही बना लेता है, तब पूर्णता प्राप्त कर लेने से अनुग्रहीत होता है। दृढ़ पाक-अलंग्रास से तात्पर्य है कि आग्रहपूर्वक बलात्कारेण वस्तुओं को चिदरूप ही कर लेना अर्थात् अपने से भिन्न नहीं रहने देना—इस प्रकार जो पंचविध कृत्यकारिता है, वह सदा ही सबके समीप ही है। अर्थात् होती ही रहती है। परन्तु फिर भी उसको स्पष्ट देखने के लिये सद्गुरु की पूजा ही करनी चाहिए।

### टिप्पणी-

किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव होना ही आभासन-(मृष्टि)—है उस पदार्थ में रागी होना अनुरक्ति (स्थिति) है और उसी पदार्थ का आत्मावस्था में विमर्श करना संहार है। उसी वस्तु को संस्कार में रखना बीजारोपण (पिधान) है और अन्त में इन सब अवस्थाओं को लय करना ही अनुग्रह अवस्था कही गई है। इन पंचकृत्यों की व्याख्या पूर्व सूत्र से सम्बन्धित है। श्रीमान् महार्थदृष्टि की रीति के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि शक्तियों के विकसित होने के क्रम द्वारा जो जो वस्तु दृष्टि गोचर होती है वह वस्तु सृष्टि में आती है (आत्म स्वरूप को विभिन्न रूपों में धारण करने को स्थिति कहते हैं) सृष्टि में आई हुई वस्तु पर जब निश्चल दृष्टि से कुछ समय तक स्थित होता है अथवा निश्चल दृष्टि से देखता है तब स्थिति शक्ति द्वारा वह वस्तु स्थिति में आती है और विमर्श दशा में इसी वस्तु का संहार होता है ॥

विमर्श का दूसरा नाम चमत्कार है—जैसा श्रीरामकण्ठाचार्य ने इस श्लोक में कहा है—समाधि रूपी वज्रों द्वारा भी कई विद्वानों का भेद रूपी पर्वत नष्ट नहीं हो

पाया किन्तु भक्ति के बल से सुशोभित भक्त विमर्श करते ही इस भेद रूपी पर्वत को नष्ट कर सकते हैं । ।

यदि संहार के समय जीव भीतर से कुछ विचित्र शंकाओं के संस्कारों से प्रभावित होता है, तो इस मल के आवरणवश पुनः उत्पन्न होने वाले संसाररूपी बीज से युक्त निग्रह अथवा पिधान दशा को प्राप्त होता है ।

इसके विपरीत जब उस उत्पन्न हुई वस्तु को पुनः उसी क्षण हठपाक की विधि से अथवा अलंग्रास की युक्ति से चित् अग्नि से दग्ध किया जावे, तो अनुग्रह से युक्त योगी को आवरण के हट जाने कर पूर्णता का लाभ होता है ।

साधारण पंचकृत्यों का वस्तुतत्त्व-विषयक कर्तृत्व ज्ञान सब जीवों के हृदय में उपस्थित है, तथापि श्री सद्गुरु के उपदेश के बिना जीव को इस ज्ञान का अनुभव नहीं होता । इसी कारण वह जन्म-मृत्यु के स्रोत में बहता चला जाता है । अतएव पंचकृत्यों के ज्ञान हेतु श्री सद्गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा अनिवार्य है, ताकि उनकी कृपा से पंचकृत्यों का ज्ञान प्राप्त हो ।

जिस साधक को श्री सद्गुरु का उपदेश प्राप्त नहीं होता, उसमें इन पंचकृत्यों के ज्ञान की कैसे सम्भावना हो सकती है तब वह अपनी ही शक्तियों द्वारा मोहग्रस्त होता है । इस मल के आवरणवश जीव शिवत्व से सम्पन्न होता हुआ भी इसे भूल जाता है ।

### टिप्पणी-

शास्त्र के अनुसार भी भगवान् सदा पञ्चकृत्यों में निरत रहते हैं । यह इनके नित्य कृत्य हैं । शास्त्रों के अनुसार जीव या पशु अनादि काल से मल से आवृत है । यद्यपि जीवत्व शिवत्व से पूर्ण है, तथापि मल से आवृत होने के कारण जीव अपना शिवत्व भूल कर जीवत्व का स्वांगधारण कर विविध-भिन्न-भिन्न लोकों और देहों में विचरता है । इस आवागमन रूपी चक्र के मूल में है उसकी आत्म विस्मृति । वस्तुतः इस विस्मृति के मूल में है मल की आवरण शक्ति । यह परमेश्वर की इच्छा से बनी है, एवं उनकी इच्छा अर्थात् अनुग्रह से जब यह आवरण शक्ति हट जाती है, तब जीव शिवत्व को प्राप्त करता है । ।

यही उसकी परामुक्ति है। इस निग्रह और अनुग्रह के मूल में श्रीभगवान् स्वयं हैं। एवं दोनों के मध्य में सृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र चलता है।

मायिक उपादानों से देह का ग्रहण करना ही सृष्टि है। उस देह का संरक्षण स्थिति है। एवं मृत्यु व प्रलय में उसकी निवृत्ति अथवा संहार है। जब तक देह बीज नष्ट न हो जावे, तब तक देह प्राप्ति का अन्त नहीं होता। इसलिये सृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र निरन्तर धूमता रहता है। देह बीज के नष्ट हो जाने पर अर्थात् अविवेक और अविद्या की निवृत्ति होने पर देह ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जीव का परस्वरूप जो है, उसकी प्राप्ति उसे तब भी नहीं होती। उसके लिये श्री भगवान् की अनुग्रह शक्तिक्रिया अवश्य ही उपेक्षित है।

यस्य पुनः सद्गुरुपदेशं विना एतत्परिज्ञानं नास्ति, तस्य अवच्छादित स्वस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं भवति ॥—इत्याह—

तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिव्यामोहितता संसारित्वम् ॥ १२ ॥

“तस्य” एतस्य सदा संभवतः पञ्चविधकृत्यकारित्वस्य ‘अपरिज्ञाने’ शक्तिपात हेतुकस्वबलोन्मीलनाभावात् अप्रकाशने ‘स्वाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं’—विविधलौकिकशास्त्रीयशङ्काशङ्ककीलितत्वं यत्—इदमेव ‘संसारित्वम्’। तदुक्तं श्रीसर्ववीरभद्रारके —

‘अज्ञानाच्छङ्कंते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहतिः ॥’ इति  
‘मन्त्रा वर्णात्मका सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मका ॥’ इति च

तथा हि चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदित महामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी या इयं परा वाक्शक्तिः आदि-क्षान्त-रूपा-शेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्ती मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति। तत्र च परारूपत्वेन स्वरूपम् अप्रथयन्ती मायाप्रमातुः अस्फुटासाधारणार्थवभासरूपां प्रतिक्षणं नवनवां विकल्पक्रियामुल्लासयति, शुद्धामपि च अविकल्पभूमि तदाच्छादितामेव दर्शयति। तत्र च ब्राह्म्यादिदेवताधि ष्ठितककारादि विचित्रशक्तिभिः व्यामोहितो देहप्राणादिमेव परिमितम् अवशम् आत्मानं मन्यते मूढजनः। ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिती,

अभेदविषये च संहारं प्रथयन्त्यः, परिमितविकल्पपात्रतामेव संपादयन्ति; पतिदशायां तु भेदे संहारम्, अभेदे च सर्गस्थिति प्रकटयन्त्यः, क्रमात्क्रमं विकल्पनिर्हासनेन श्रीमद्भैरवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीम् अविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति ॥

सर्वे मयायं विभव इत्येवं परिजानतः ।

विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥

इत्यादिरूपां चिदानन्दावेशमग्नां शुद्धविल्पशक्तिम् उल्लासयन्ति ।

ततः उक्तनीत्या स्वशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम् ।

किञ्च चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण-बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मक-कलादि-शक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिक-चिद्गगनचरीत्व-स्वरूपेण चकास्ति; भेदनिश्चयाभिमान- विकल्पनप्रधानान्तःकरण-देवीरूपेण गोचरीचक्रेण गोपिताभेदेनिश्चयाद्यात्मक-पारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते; भेदालोचनादि प्रधानबहिष्करणदेवतात्मना च दिक्चरीचक्रेण गोपिता भेदप्रथात्मक-पारमार्थिकस्वरूपेण स्फुरित; सर्वतो व्यवच्छिन्नाभास-स्वभावप्रमेयात्मना च भूचरीचक्रेण गोपितसार्वात्म्यस्वरूपेण पशुहृदयव्यामोहिना भाति। पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्तयात्मकचिद्गगनचरीत्वेन अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन अभेदालोचनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, स्वांगकल्पाद्वय-प्रथासारप्रमेयात्मना च भूचरीत्वेन पतिहृदयविकासिना स्फुरित। तथा च उक्तं सहज चमत्कारपरिजनिताकृतकादरेण भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु-

पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः ।

वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः ॥

इति । एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम् ॥

अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकेव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापान-समानशक्तिदशाभिः जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभूमिभिः देह-प्राण-पुर्यष्टककलाभिश्च व्यामोहयति। तदा तद्वयामोहितता संसारित्वम्; यदा तु मध्यधामोल्लासाम् उदानशक्तिं, विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्तिं तुर्यदशारूपां तुर्यातीत-दशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति, तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तर्भवति॥ एवं त्रिधा स्वशक्तिव्यामोहितता व्याख्याता। चिद्रुत् इति (६) सूत्रे चित्प्रकाशो गृहीतसंकोचः संसारी इत्युक्तम्, इह तु स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वं भवति—इति भङ्गयन्तरेण उक्तं॥ एवं संकुचित शक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति तथा अयम्।

...शरीरी परमेश्वरः॥

इत्याम्नायस्थित्या शिवभट्टारक एव—इति भङ्गयानिस्तुपितं भवतियदागमः  
मनुष्यदेहमास्थाय छनास्ते परमेश्वराः। इति उक्तं च प्रत्यभिज्ञाटीकायाम्—  
'शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि  
सिध्यन्ति'—इति॥१२॥

जिसको सद्गुरु के उपदेश का लाभ नहीं हुआ है, अथवा ज्ञान नहीं हुआ है, उसको अपने स्वरूप को आच्छादित रखती हुई अपनी शक्ति के द्वारा ही व्यामोह होता है, यही बात कहने के लिए सूत्र है—

**सूत्र १२** — कि अपनी शक्ति के द्वारा ही व्यामोह होता है। इस पञ्चविध कृत्य कारित्व का ज्ञान न होने से अपनी शक्ति से ही मोहित होकर रहना होता है। यही संसारित्व अर्थात् बन्धन है।

टीकाकर व्याख्या करते हैं—कि उसका अर्थात् पञ्चकृत्यकारित्व का अज्ञान रहने से, अर्थात् शक्तिपात जन्य अपने बल का प्रकट्य न होने से, अपनी शक्ति से ही व्यामोहितपना रहता है; अर्थात् अनेक प्रकार के लौकिक तथा शास्त्रीय शंका रूप कीलों से जो कीलित होकर रहना होता है, वही संसारिक बन्धन है। इसी बात

को श्री सर्ववीरभट्टारक ग्रंथ में ऐसे कहा गया है कि लोग अज्ञान से ही शंका करते हैं, उसी से ही सृष्टि और संहार होता रहता है।

सब मंत्र वर्ण स्वरूप है, एवं सब वर्ण शिव स्वरूप ही हैं—ऐसा भी कहा गया है। आशय यह है कि चित् प्रकाश से अभिन्न-स्वरूपा, निरन्तर प्रकाशित, महामन्त्ररूपा, पूर्णाहं-विमर्श वाली जो यह परारूपा वाक्-शक्ति है; जिसके अन्दर अ से लेकर क्ष पर्यन्त सब शक्ति समूह है वह पराशक्ति पहले पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी क्रम से ग्राहक भूमिका को प्रकट करती है। उनमें अपने परारूपता-स्वरूप को, अर्थात् शुद्ध आत्म रूपता को प्रकाशित न करती हुई माया-प्रमाता के अस्फुट-असाधारण-पदार्थों के अवभास को क्षण-क्षण में नई-नई विकल्पक्रिया को उत्पन्न करती रहती है और क्षण प्रति क्षण नवीन रूप धारण करती रहती है तथा शुद्ध अविकल्प भूमि को भी विकल्प से ही ढकी हुई दिखाई रहती है। उस स्थिति में क आदि वर्णों का रूप धारण करती हुई ब्रह्मी माहेश्वरी आदि विचित्र शक्तियों से व्यामोहित होता हुआ वशीभूत मूढ़ जन देह प्राण आदि परिमित पदार्थ को ही आत्मा मानता है। वे ब्राह्मी आदि देवियों पशु अवस्था में अर्थात् अज्ञान अवस्था में भेद के विषय में अर्थात् निभिन्न विषयों के अवभास में सृष्टि स्थिति को दर्शाती रहती है और अभेद के विषय में संहार को दर्शाती रहती है। यही शक्तियां पति दशा में अर्थात् पूर्णाहम् ही ज्ञानदशा में उलट कर काम करती रहती है अर्थात् अभेद में सृष्टि स्थिति करती रहती है और भेद में संहार करती रहती है। तब क्रमशः विकल्प का नाश करती हुई भैरव मुद्रा में प्रवेश रूपा-महती-अविकल्प भूमि को प्रत्यक्ष प्रकाशित करती है।

इस अविकल्प भूमि की अवस्था में यह सब कुछ विश्वरूप से प्रकाशमान मेरा ही वैभव है, मैं ही विश्वात्मा हूँ, ऐसा जानने वाले को विकल्प के प्रसार में भी महेश्वरता बनी रहती है। इस प्रकार चिदानन्द आवेश में मग्न शुद्ध विकल्प शक्ति को ही प्रकाशित करती हैं। इस प्रकार से कही हुई रीति से अपनी शक्ति द्वारा मोहित होना ही संसारी बनना है।

इस सूत्र की दूसरी प्रकार से भी व्याख्या करते हैं — संसार को वमन अर्थात् प्रकट करने के कारण एवं संसार के प्रति वामाचार के हेतु से भगवती चिति शक्ति ही वामेश्वरी कहलाती है और वही खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी रूप समस्त

प्रमाता अन्त करण, बहिष्करण, एवं प्रमेय पदार्थ रूप होकर प्रकट होती है। पशु प्रमाता की स्थिति में शून्य पद में विश्रान्त होती हुई किञ्चित् कर्तृत्वादि-रूप कला आदि-शक्ति आदि रूप से अर्थात् कुछ ही करने की शक्ति-कुछ ही जानने की शक्ति आदि के रूप से स्फरित होती रहती है। इस प्रकार से स्फरित होती हुई इस खेचरी चक्र से वास्तविक जो चिदगगनचारित्व है अर्थात् चिदाकाश प्रसारिता है उसको ढककर प्रकाशित होती रहती है। भेद का निश्चय और अभिमान विकल्प करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे अन्तःकरण देवी चक्र अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार रूपी गोचरी चक्र से अभेद निश्चय रूप पारमार्थिक स्वरूप को ढक कर प्रकाशित होती है। एवं भेद का ही अर्थात् भिन्न-भिन्न वस्तुओं का आलोचन करना ही जिसका प्रधान कार्य है। अभेद प्रधान वास्तविक रूप को आवृत कर दिक्चरी चक्र रूप में प्रकाशित होती है। एवं भिन्न-भिन्न रूपों से प्रकाशित होने वाले जो प्रमेय हैं घटपट आदि या आकाश आदि तदरूप भूचरी चक्र से सर्वात्म्य अर्थात् सर्वरूपता आदि को ढक कर पशु हृदय को व्यामोहित करने वाली प्रकाशित होती है।

खेचरी आदि रूप वाली यही वामेश्वरी देवी पति दशा में अर्थात् जिनको शक्तिपात द्वारा ज्ञान हो गया है, उनके लिये सर्वकर्तृत्व सर्वज्ञत्व आदि बोध गगनचरी होती हुई खेचरी रूप से, एवं अभेद निश्चय आदि करती हुई गोचरी रूप से अभेदालोचनाप्यात्मक दिक्चरी रूप से तथा अपने अंग समान ही अभिन्न रूप से प्रकाशमान प्रमेय रूप भूचरी रूप से पति प्रमाता के हृदय को विकास में लाती हुई प्रकट होती है। ऐसे ही सहज विमर्श से अत्यन्त अकृतक स्वभाव में पहुँचे हुए भट्ट दामोदर ने अपने मुक्तक श्लोक में कहा है कि पूर्ण तथा अनवच्छिन्न प्रमाताओं के अन्तःकरण, बहिष्करण एवं प्रमेयों में विद्यमान जो वामेश्वरी आदि शक्तियाँ हैं, वे ही ज्ञान तथा अज्ञान से ही मुक्ति तथा बन्धन को देने वाली होती है। इति। इस प्रकार से अपनी शक्तियों के द्वारा व्यामोहित होना ही संसारित्व है। अर्थात् संसारी बनना है।।

पुनः तीसरी व्याख्या भी करते हैं - अपिच इत्यादि से - चिदात्मा परमेश्वर की अपनी सदा रहने वाली स्फरता सार वाली कर्तृत्व रूपा ऐश्वर्यशक्ति है। वह जब स्वरूप को गोपन करके पशु स्थिति में प्राण, अपान, समान शक्ति रूप बन

जाती है तो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को भासित करती हुई देह प्राण पुर्यष्टक कलाओं से जीव को व्यामोहित करती है, तब शक्ति के द्वारा व्यामोहित होना ही संसारित्व हो जाता है। जब वही शक्ति मध्यधाम में उल्लसित होने वाली उदान शक्ति को प्रकाशित करती है। एवं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त व्यान शक्ति को प्रकाशित करती है, तब तुर्यादशा तथा तुर्यातीत दशा रूप चिदानन्दधन को प्रकट करती है। उस दशा में देहादि के रहने पर भी परिस्थिति होती है, अर्थात् जीवन मुक्ति होती है।

इस तरह तीन प्रकार से शक्ति द्वारा व्यामोहिता की व्याख्या की गई। नवम् सूत्र में चिद्रत् इत्यादि शब्दों द्वारा चित् प्रकाश ही संकुचित होकर संसारी बनता है—यह कहा गया था। इस सूत्र में अपनी ही शक्ति से व्यामोहित हो जाने से चित् प्रकाश रूप आत्मा ही संसारी हो जाता है, यह दूसरे ढंग से कहा गया। वस्तुतः बात एक ही है।

इस प्रकार संकुचित शक्ति वाला होने पर भी और प्राण देहादि वाला होने पर भी यदि अपनी शक्ति से व्यामोहित नहीं होता है, तब वह चिदात्मा शरीर वाला होता हुआ ही परमेश्वर है, इस आगम द्वारा प्रतिपादित ढंग से शिव भट्टारक ही वह बना रहता है। यह भी वहां पर व्यंजना द्वारा निरूपित किया गया। जैसा कि आगम भी है—कि जो लोग व्यामोहित नहीं होते हैं, वे लोग मनुष्य देह में रहते हुए भी छिपे हुए परमेश्वर हैं। इति ॥

प्रत्यभिज्ञा टीका में भी कहा गया है कि जो लोग शरीर को ही या घटादि को ही ३६ तत्त्वमय शिव रूप से देखते हैं, वे लोग भी सिद्ध हो जाते हैं। इति ॥

### टिप्पणी-

संसारी होने का अभिप्राय है उक्त पञ्चकृत्य की कर्तृता के ज्ञान के अभाव से अपनी ही शक्तियों द्वारा मोहित होना अथवा मोह को प्राप्त होना।

जीव जिसे यह पञ्चकृत्य सदा प्राप्त ही है, इन पञ्चकृत्यों के ज्ञान के अभाव के कारण अथवा शक्तिपात के अभाव के कारण आत्मविस्मृति के वश अथवा अपनी ही शक्तियों से होने वाले आवरण के वश मोह ग्रस्त होता है, तो उसका नाना शंका रूपी खँडियों के द्वारा बन्धन में आना ही संसारी दशा है। श्री सर्ववीरभट्टारक

में ऐसा कहा गया है-

अज्ञान वशात् लोग शंका में पड़ जाते हैं, यही सृष्टि और संहार का कारण है।

जितने मन्त्र हैं वे वर्णों द्वारा बनते हैं और सब वर्ण शिव रूप हैं। इसी बात को ऐसे सिद्ध किया है, कि जो वाक् शक्ति है, वह परारूपा है, जो कि चित्प्रकाश से मिली हुई नित्य ज्ञानरूपा है और महामन्त्रमयी है। परावाक् पूर्णहन्तामयी परमैश्वर्यरूपा है। जो भी मन्त्र अथवा बाणी की ध्वनि होती है, वह अहम् विमर्श से पूर्ण है। उसी में संपूर्ण शक्तियाँ आधारित हैं। अ अक्षर से क्ष अक्षर पर्यन्त सब अक्षरों की आधार बनी हुई यह परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी के क्रम से प्रमातृत्व दशा का बोध कराती है।

### टिप्पणी-

शास्त्रों में-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी-चार प्रकार की वाणियों का उल्लेख मिलता है। जो साधारण बातचीत-वार्तालाप में आने वाली वाणी है, उसे ही बैखरी वाणी कहते हैं। साधारणतया देखा गया है कि सदगुरु द्वारा उपदिष्ट नाम चैतन्य सम्पन्न होने से, साधक का हृदय यदि शुद्ध हो, तो स्वयं ही निरन्तर चलना शुरू हो जाता है। उसे चलाने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसे अजपा जाप भी कहते हैं। इस अभ्यास के प्रगाढ़ होने पर, श्रद्धा भक्ति के प्रभाव से क्रमपूर्वक धीरे-धीरे मध्यमा, पश्यन्ती और परावाणियों का बोध हो जाता है। यही मन्त्र चैतन्य का पूर्वाभास है अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है। सब वर्णशिव रूप हैं।

बैखरी का उच्चारण कण्ठ द्वारा ही होता है, किन्तु मध्यमा का उदय होने पर बहुधा कण्ठ रुद्ध हो जाता है, अथवा कण्ठ का रोध शुरू होने लगता है। कभी-कभी साधक को इस अवस्था में घबराहट होने लगती है। किन्तु जैसे-जैसे कण्ठ द्वारनिरुद्ध होता जाता है, दूसरी ओर वैसे ही मध्य नाड़ी का ऊर्ध्व द्वार अधिक उन्मीलित-खुलना शुरू-होता जाता है। धीरे-धीरे मन और प्राण सूक्ष्म होते चले जाते हैं, साथ ही प्राण शनैः शनैः साम्य भाव को प्राप्त होने लगते हैं। प्राणों के साम्य होने के उपरान्त सुप्त कुण्डलिनी के जागरण वश सुषुमा नाड़ी का द्वार खुल जाता है। तब कुण्डलिनी ही नाद का रूप धारण करती हुई

ब्रह्मरन्ध की ओर ऊपर को चलने लगती है। जैसे-जैसे यह प्राण और अपान सूक्ष्म होते चले जाते हैं; नाना प्रकार के मधुर नाद सुनने में आते हैं। तत्त्व ज्ञानी गुरु के उपदेशानुसार समस्त ध्वनियों का परित्याग कर देना चाहिए। कुछ समय के उपरान्त इन सब मधुर ध्वनियों को सुनते-सुनते अकस्मात् गुरु कृपा से अनाहत नाद सुनाई देता है। तब वे सब अवान्तर ध्वनियाँ सुनाई नहीं देती हैं। क्योंकि उस समय मन अनाहत में लीन हो जाता है। यही पश्यन्ती अवस्था है। इसके प्राप्त होने पर मन उपरमता को प्राप्त हो जाता है। यही मन्त्रात्मक इष्ट देवता के साक्षात्कार की अवस्था है। यहाँ तो ब्रह्मरन्ध तक ही नाद पहुँचता है। इसके उपरान्त नाद ब्रह्म रन्ध से कुछ ऊपर लीन हो जाता है। शास्त्रों में इसी का नाम परावाणी है। वहाँ पहुँचने पर यह समस्त देह और विश्व में व्याप्त हो जाता है।

परावाक् शक्ति पूर्णाहन्तामयी परमैश्वर्य रूपा होने पर भी मित्रप्रमाता के स्वरूप में स्थित उनके आत्मस्वरूप को आच्छादित करती है, अर्थात् उनके सन्मुख उसे स्फुरित होने नहीं देती। अणु या माया प्रमाता के सम्मुख वह परावाक् परमैश्वर्य रूपा होने पर भी प्रतिक्षण नूतन विकल्पों को स्फुरित करती है।

यह सब विकल्प अस्फुट तथा असाधारण अर्थावभास के रूप में प्रकट होते हैं। इस क्रिया के प्रभाव से शुद्ध अविकल्पभूमि उन विकल्पों से आवृत हो रही है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मूढ़ जीव ब्रह्मी-आदि अनेक शक्तियों द्वारा मोह में पड़ा हुआ देह प्राण पुर्यष्टक और शून्य इत्यादि को ही आत्मा मानता है। ब्राह्मी इत्यादि देवियाँ पशुदशा में सृष्टि, स्थिति और संहार आदि को प्रकट करती हुई सीमित विकल्प दशा को प्राप्त करती हैं, अर्थात् अणु रूपी आत्मायें स्वयं उन विकल्पों के अधीन हो जाती हैं। पशुत्व अथवा जीव भाव के उदय का यही क्रम है।

परन्तु पति (शिव) दशा के उन्निष्ठित होने पर यह सब ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि शक्तियाँ जीव का भेदभाव हटाकर अभेद-भाव का उत्पादन और संरक्षण करती है। इसी प्रकार क्रमशः विकल्पों का क्षय-हास हो जाता है। शिवत्व निखर पड़ता है। एवं अविकल्प भूमि प्रकट हो जाती है। अथवा श्री भैरव मुद्रा के प्रवेश

क्रम द्वारा महान् अविकल्प भूमि का उदय हो जाता है। जिससे साधक समझने लगता है कि यह सारा जगत् मेरा ही विकास मात्र है। इस प्रकार जानता हुआ ज्ञानी सब विकल्पों के उत्थान के मध्य में भी महेश्वर दशा में ही स्थित रहता है। उस समय चिदानन्दावेशमयी विकल्प शक्तियों का उत्थान होने पर शिव रूपी आत्मा समग्र जगत् को अपनी विभूति समझने लगता है। ऊपरोक्त रीति द्वारा अपनी शक्तियों से मोहित होना ही संसारी दशा कहलाती है।

### टिप्पणी-

और इसके पश्चात् चिति स्वरूपा महाशक्ति भगवती 'वामेश्वरी' नाम धारण करती है, क्योंकि यह संसार को वमन करती है, तथा संसार में विरुद्ध स्वरूप को प्रकट कर उसी के द्वारा अपने स्वरूप को आच्छादित कर लेती है। यह खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी इन चार स्वरूपों में परिस्फुरित होकर अपना कार्य करती है। शिव मित-प्रमाता बनने के लिये खेचरी शक्ति का प्रयोग करते हैं। वे अपरा दशा को ग्रहण करते हैं। उसके स्फुरण की अवस्था में प्रमाता, अन्तःकरण, बहिष्करण (बहिरन्द्रियाँ) और प्रमेय, यह चार विभाग भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होते हैं।

यह सब शक्तियाँ पशुओं अथवा जीवों को विमोहित करती हैं और पशु भूमि में शून्य पद में विश्रान्त होकर अल्प सामर्थ्य वाले खेचरी चक्र के द्वारा भेद दशा को प्राप्त होती हैं। माया से उद्भूत होने वाली कलादि पञ्चकुंचक रूपा शक्तियाँ खेचरी चक्र नाम से अभिहित होती हुई स्वयं ही परमार्थिक "चिदगगनचारित्व स्वरूप" को आच्छादित कर लेती हैं।

**गोचरी**—शक्ति का स्वभाव है—अन्तःकरण। इसके द्वारा आत्मा का अभेद-अविकल्पमय पारमार्थिक, स्वरूप अन्तर्धान हो जाता है।

**दिक्चरी**—का स्वभाव है—बहिष्करण। इसके द्वारा जो शिव का अभेद ज्ञान है, वह आवृत हो जाता है तथा भेद विचार तथा भेदप्रथा प्रकट हो जाती है।

**भूचरी**—का स्वभाव है—भाववर्ग या प्रमेय सत्ता। यह अपनी पारमार्थिक सर्वात्मता को आच्छादित करती है और प्रमेय वर्ग को प्रकाशित करती है। उक्त

सब शक्ति चक्र पशुओं को विमोहित करते हैं। परन्तु आत्मा का जब शिव भूमि की ओर उत्थान होता है, तब यह शक्तियाँ पति प्रमाता के हृदय को विकसित करती हैं। उस समय यह खेचरी आदि शक्तियाँ आत्मा के पूर्णकर्तृत्वादि स्वधर्म की प्रकाशक 'चिदगगनचरी' के रूप में, अभेद-निश्चय का ज्ञान कराने वाली गोचरी के रूप में, अभेद दर्शन का अनुभव कराने वाली दिक्चरी के रूप में और अपने अंगों के सदृश स्वांगकल्प प्रमेयात्मा का अद्वय प्रथारूप ज्ञान को कराने वाली भूचरी के रूप में पति हृदय को विकसित करके स्फुरित होती हैं जब शक्तियाँ उन्मिष्ट होती हैं, तब वे समान रूप से जीव-भूमि में भी उन्मिष्ट होती हैं। जिन शक्तियों से जीवों के संकुचित ज्ञान-क्रिया आदि का विधान होता है, उन्हीं से पति के पूर्ण ज्ञान-क्रिया आदि का विधान भी होता है और उन्हीं से पूर्ण ज्ञान-क्रिया भी निष्पन्न-सम्पन्न होती है। उन्हीं से शिवावस्था में अभेद निश्चयादि का भी विधान होता है। जिन से जीव को भेद दर्शन, भेद श्रवण। भेद स्पर्शन, भेद जिध्रण तथा भेदास्वादन होता है, वही शिव में अभेद दर्शन आदि की हेतु बन जाती हैं। इसी को स्वाभाविक चमत्कार द्वारा आदर युक्त श्री भट्ट दामोदर ने अपने मुक्तक श्लोक में कहा है, कि पूर्ण तथा अनवच्छिन्न प्रमाता के अन्तःकरण और बहिष्करण एवं अपने प्रमेय में विद्यमान जो वामेश्वरी आदि शक्तियाँ हैं, उनके ज्ञान द्वारा मुक्ति की हेतु और अज्ञान द्वारा बन्धन की हेतु बनती हैं। अपनी शक्तियों द्वारा विमोहित होना ही संसारी दशा कहलाती है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्यत्व, विभुत्व और आपत्कामत्व यह पांच आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं इन्हीं का नाम चिदगगनचारित्व है। पशुदशा में इस खेचरी चक्र से आक्रान्त-आवृत-होकर शिव ही परिमित बन जाता है और शून्य पद में विश्रान्ति करता है। इस प्रकार परमात्मा स्वेच्छा से जीव भाव ग्रहण करने पर मितप्रमाता बनने के लिये खेचरी चक्र का प्रयोग करता है। उस समय यह अल्पकर्ता, अल्पज्ञ, अनित्य, नियतदेशवृत्ति और भोगाकांक्षा से अलंकृत होता है।

चिदात्मा की निज अनपायिनी शक्ति ही उनकी ऐश्वर्य शक्ति है। इसी का नामान्तर है—कर्तृत्व। जीव अवस्था में उक्त शक्ति आत्म स्वरूप को आच्छादित करती है। तब यह प्राण अपान और समान रूप धारण करती हुई जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति भूमियों द्वारा देह प्राण और पुर्यष्टक वर्गों से आत्मा को विमोहित करती है।

यही संसारी दशा है। परन्तु जब साधक अथवा योगी शिव रूपी स्वात्मा के सन्मुख हो जाता है, तब यही शक्ति मध्य-धाम अथवा सुषुम्ना मार्ग में उल्लसित होकर 'उदान' नाम धारण करती हुई ऊर्ध्व दिशा की ओर अग्रसर होने लगती है। इस ऊर्ध्व गति की समाप्ति हो जाने पर यही शक्ति 'व्यान' नाम ग्रहण कर समस्त देह में तथा विश्व में व्याप्त हो जाती है। उस समय योगी देहात्म-भाव से पूर्णतया मुक्त होकर व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। योगशास्त्र में यह तुरीया तथा तुर्यातीत नाम से कथित है। यह दो दशाएं चिदानन्दघनमयी हैं और यह दोनों ही शिव दशाएँ हैं। इन्हीं का नाम है—जीवन्मुक्ति। इस दशा का उदय जीवनकाल में भी हो सकता है।

ऐसे अपनी शक्तियों से मोहित होना तीन प्रकार से कहा गया है—चिद्गत् (सूत्र ६) में कहा है कि चित् प्रकाश ही संकोच के ग्रहण करने पर संसारी कहा गया है और अन्य प्रकार से अपनी शक्तियों द्वारा विमोहित होने पर शिव ही संसारी दशा को प्राप्त होता है। अन्य रीति से कहा है कि संकुचित प्राण आदि शक्तियों से युक्त होने पर भी जब वह मोहित नहीं होता, तो यह जीव शरीरधारी होते हुए भी परमेश्वर ही है, अथवा आगमानुसार परम शिव ही कहा जा सकता है अथवा मनुष्य देह में स्थित छिपा हुआ परमेश्वर ही है। प्रत्यभिज्ञा की टीका में भी ऐसा ही कहा गया है, कि केवल शरीर को ही नहीं, किन्तु-घटादि समस्त वस्तु वर्ग को जो छत्तीस तत्त्वय शिव भाव से पूर्ण देखता है, वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

**उक्त सूत्रार्थप्रतिपक्ष्येण तत्त्वदृष्टिं दर्शयितुमाह—**

**तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन  
चेतन पदाध्यारोहात् चित्तः ॥१३॥**

पूर्वसूत्रव्याख्याप्रसङ्गेन प्रमेयदृष्ट्या वितत्य व्याख्यातप्रायमेतत् सूत्रम्, शब्दसंगत्या तु अधुना व्याख्यायते। 'तस्य' आत्मीयस्य पञ्चकृत्यकारित्वस्य "परिज्ञाने" सति अपरिज्ञान लक्षणकारणापगमात् स्वशक्तिव्यामोहिततानिवृत्तौ स्वातन्त्र्यलाभात् प्राक् व्याख्यातं यत् 'चित्तं' तदेव संकोचिनीं बहिमुख्यतां जहत्, 'अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात्'—ग्राहकभूमिकाक्रमण—क्रमेण संकोचकलाया अपि

**विगलनेन स्वरूपापत्त्या “चित्र” भवति; स्वां चिन्मयीं परां भूमिमाविशति  
इत्यर्थः॥१३॥**

पूर्व सूत्र में जो पंचविधकृत्य कारिका को न जानने से व्यामोहितपना कहा गया है, उसके विपरीत तत्त्वदृष्टि दिखाने के लिये यह सूत्र है-

**सूत्र १३** – उस पंचविधकृत्य कारित्व को जान लेने से चित्र ही जब अन्तर्मुख होकर चेतन पद पर आरूढ़ हो जाता है, तो वह चित्र कहलाता है ॥

टीकाकार कहते हैं कि पूर्व सूत्र की व्यवस्था में ही प्रसंग वश इस सूत्र के भी भावार्थ अर्थात् प्रमेय विषय की व्याख्या हो गई है, केवल शब्द संगति यहाँ दिखाता हूँ। तस्य अर्थात् उस अपने पंचविधकृत्यकारित्व का ज्ञान हो जाने से अज्ञान रूप कारण दूर हो जाता है और अपनी शक्ति द्वारा जो व्यामोह था, वह हट जाता है। इसलिये स्वातन्त्र्य के लाभ के हो जाने से जो ऊपर के सूत्र में व्याख्यात चित्र है, वह संकोच करने वाली बहिमुर्खता का त्याग करता हुआ अन्तर्मुख होकर चेतन पद पर आरूढ़ हो जाता है। अतः प्रमातृता पद पर आरोहण के क्रम से संकोच के विगलन-शिथल होने से अपने चित्र स्वरूप को प्राप्त हो जाता है और अपनी चिन्मयी परमा भूमि में प्रविष्ट हो जाता है।

### टिप्पणी-

अपने पंचकृत्यों का ज्ञान जब जीव को प्राप्त होता है, तो चित्र अथवा अन्तःकरण के अन्तर्मुख होने पर चेतन पद में आरूढ़ हो जाता है, अथवा प्रवेश करता है, तो उसे चित्र ही कहा जाता है।

पूर्व सूत्र में विस्तारपूर्वक इस सूत्र की व्याख्या की गई है। अब केवल शब्दों द्वारा इस सूत्र की टीका कही जा रही है। उन अपने स्वाभाविक पंचकृत्यों के ज्ञान के हो जाने पर अपरिज्ञान जब मिट जाता है, अथवा वह आवरण शक्ति जब हट जाती है तथा अपनी शक्तियों द्वारा मोहित होने वाला भाव भी नष्ट हो जाता है अर्थात् विरुद्ध शक्तियों का समीकरण हो जाता है अर्थात् विरुद्ध शक्तियों का

विरोध हटने के कारण मोह भी मिट जाता है तथा शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है तब पिछले सूत्र में कहा गया जो चित्त है, वही चित्त संकोच रूप बहिर्मुखता को त्यागता हुआ अन्तर्मुखी भाव के द्वारा चैतन्य पद पर आरूढ़ होता है। तब ग्राहक अर्थात् कर्तृत्व भाव को क्रमपूर्वक ग्रहण करने पर उसकी संकोच दशा भी मिट जाती है और वह पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति पर चित्त ही बन जाता है। तब वह अपनी पूर्ण चिदानन्दधन पर दशा को ही प्राप्त करता है।

ननु यदि पारमार्थिकं चिच्छक्तिपदं सकलभेदकवलनस्वभावं तत् अस्य  
मायापदेऽपि तथारूपेण भवितव्यं तथा जलदाच्छादितस्यापि भानोः  
भावावभासकत्वम्। –इत्याशङ्क्य आह –

चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति। ॥१४॥

‘चितिरेव’ विश्वग्रसनशीलत्वात् ‘वह्निः;’ असौ एव अवरोहपदे – माया-प्रमातृतायां ‘छन्नोऽपि’ – स्वातन्त्र्यात् आच्छादितस्वभावोऽपि, भूरिभूतिच्छन्नाग्निवत् ‘मात्रया’ – अंशेन, नीलपीतादिप्रमेयेन्धनं ‘प्लुष्यति’ – स्वात्मसात् करोति। मात्रापदस्य इदम् आकूतम् – यत् कवलयन् अपि सार्वात्म्येन न ग्रसते; अपितु अंशेन; संस्कारात्मना उत्थापयति ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातृणां स्वानुभवत एव सिद्धम्। यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः निजस्तोत्रेषु।

‘वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मोन्न-विष्णवः।  
ग्रसमानास्ततो वन्दे देवं विश्वं भवन्मयम्॥।’ इति ॥१४॥

(शिवस्तोत्रबली २०.१७)

अब शंका होती है कि पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक चित्तशक्ति यदि सम्पूर्ण भेदों को निगल जाने वाली है, तब मायीय अवस्था में भी वैसा वह क्यों नहीं करती है जैसे मेघों से आच्छादित होते हुए भी सूर्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। इस शंका के समाधान में यह सूत्र है –

टिप्पणी –

अब किसी को यह शङ्खा हो कि यदि परमार्थरूपा चित्तशक्ति सारे भेदों को

ग्रास करने के स्वभाव वाली है तब इस मायादशा में भी उसे चित्तशक्ति रूपता से पूर्ण होना चाहिए। जैसे सूर्य बादलों से ढका हुआ भी हो, तो भी उसमें पदार्थों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य हوتी है। “चिति को इसमें सूर्य की उपमा दी है और माया को बादल की।” इसी शंका को लेकर अब सूत्र कहता है।

**सूत्र १४** – चिति ही जो सम्पूर्ण विश्व को ग्रास कर लेने से अग्नि है, वही अवरोह पद में अर्थात् माया प्रमातावस्था में आच्छन होने पर भी अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता के विकास से अपनी ही शक्तियों से ढक जाने पर भी प्रचुर भस्म से ढकी हुई अग्नि की न्याई कुछ मात्रा से, अर्थात् अंश से, नील पीत आदि प्रमेय रूप लकड़ी को प्लोषित, अर्थात् अपने आधीन-आत्मसात् करती है। मात्रा पद का यहां यह तात्पर्य है कि पदार्थों को ग्रास करती हुई भी पूर्ण रूप से ग्रसन नहीं करती, किन्तु कुछ अंश में ही ग्रास करती है। अतः संस्कार रूप से फिर उसको स्मरण आदि में उपस्थित करती है अर्थात् ले आती है। कैसे ग्रसन करती है यह तो सब लोगों को अपने अनुभव से ही सिद्ध है। क्योंकि किसी भी पदार्थ को देख सुन कर उसे अपने प्रकाशात्मक स्वभाव में ही ले आती है। अर्थात् उन वस्तुओं को प्रकाशमान बना देती है। जैसे कि आचार्य उत्पलदेव ने अपने स्तोत्र में कहा है कि सब जन्तु-प्राणी और ब्रह्मादिक भी पदार्थों को ग्रसित करते रहते हैं। इसलिये हे देव मैं आपमय विश्व को ही नमस्कार करता हूँ। इति ॥

### टिप्पणी–

चिति रूपा अग्नि अवरोह क्रम में माया से छिपी होने पर भी प्रमेय रूपी लकड़ी को किंचित् जला देती है। चिति भगवती ही विश्व को ग्रास करने के स्वभाव वाली होने से अग्नि रूपा है। यह चिति अवरोह पद में माया प्रमातृता से कुछ मात्रा में आच्छादित होने पर अर्थात् अपनी इच्छा से ही अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाती हुई, स्वतन्त्र शक्ति के स्वभाववश भस्म से ढकी हुई अग्नि रूपा होती हुई, छिपी हुई अग्नि के सदृश अंश में अर्थात् किंचित् मात्रा में, इन नील पीत आदि प्रमेय रूपी इंधनों को जला देती है और अपने पूर्ण स्वभाव में आत्मसात् कर लेती है अर्थात् यहां चिति सम्पूर्ण रूप से तो उसे ग्रास नहीं करती, किन्तु कुछ मात्रा में उसे ग्रास करती है, जिसके संस्कार वश-फलस्वरूप-यह उसे

स्मृति इत्यादि में पुनः खड़ा कर देती है।

ग्रास करने का स्वभाव सब जीवों का है यह अपने अनुभव से ही सिद्ध होता है।

जैसा कि श्री उत्पलदेव लिखित शिवस्तोत्रावली-२० स्तोत्र १७ श्लोक-में कहा है-हे शंकर इस संसार में सभी प्राणी यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु आदि भी सदैव ग्रास करते हुए दिखाई देते हैं, इसलिये आप से अभिन्न रूप सारे जगत् को मैं प्रणाम करता हूँ।

यदा पुनः करणेश्वरीप्रसरसंकोचं संपाद्य सर्गसंहारक्रमपरिशीलनयुक्तिम्  
आविशति तदा

**बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ॥१५॥**

चितिरेव देह प्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपम् उन्मग्नत्वेन  
स्फारयन्ती बलम्; यथोक्तम्

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ... ॥इति॥ स्पन्दकारिका, २.निष्ठन्द )

एवं च 'बललाभे'-उन्मग्नस्वरूपाश्रयणे, क्षित्यादि-सदाशिवान्तं 'विश्वम्' आत्मसात् करोति स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति। तदुक्तं पूर्वगुरुभिः स्वभाषामयेषु क्रमसूत्रेषु-

'यथा वह्निरूद्धोधितो दाह्यं दहित तथा विषयपाशान् भक्षयेत् इति।

न चैवं वक्तव्यम्-विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कदाचित्की । कथम् उपादेया इयं स्यात् इति; यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदम् अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति । वस्तुतस्तु चितिस्वातन्त्र्यावभासित देहाद्युन्मज्जनात् एव कदाचित्कत्वम् । एषा तु सदैव प्रकाशमाना; अन्यथा तत् देहादि अपि न प्रकाशेत । अतएव देहादि प्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः, न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्त्यर्थम्, इतिश्रीप्रत्यभिज्ञाकाराः ॥१५॥

जब फिर से करणेश्वरियों के प्रसार को और संकोच को करके सृष्टि संहार क्रम के अनुशीलन की युक्ति को योगी ग्रहण करता है।

**सूत्र १५** – तब चिति के बल के लाभ हो जाने से सम्पूर्ण विश्व को अपने अधीन कर लेता-आत्मसात् कर लेता है। अर्थात् अपने को विश्व स्वरूप समझने लगता है।।

टीकाकार कहते हैं कि देह प्राणादि जो चिति का आच्छादन है, अर्थात् जिनके द्वारा चिति का स्वरूप ढका हुआ है, वह जब दूर हो जाता है और उसका अपना स्वरूप ऊपर उठने-प्रकट होने लगता है, तब चिति ही बल बन जाती है। यही स्पन्द शास्त्र में भी कहा गया है—उसी बल के ऊपर आक्रमण अर्थात् आरोहण करके मंत्रादिक बलशाली बन जाते हैं। इति।

इस प्रकार बललाभ हो जाने से अर्थात् स्वरूप की उन्मग्नता के आ जाने से पृथ्वी से लेकर सदाशिव पर्यन्त जो विश्व है, उसको योगी आत्मसात् कर लेता है। अर्थात् अपने से अभिन्न देखने लगता है। जैसे कि पूर्व गुरुओं ने स्वरचित क्रम सूत्र में कहा है—जैसे प्रज्वलित की जाने पर अग्नि दाह्य पदार्थों को दग्ध करती है, वैसे ही विषय पाशों को प्रज्वलित चिति भक्षण कर लेती है। इस बात को प्रत्यभिज्ञाकार ने भी कहा है कि ऐसा नहीं कहना चाहिए कि विश्वमय हो जाने पर जो समावेश भूमि है, वह तो क्षणिक-अस्थायी है। अतः वह उपादेय अर्थात् ग्राह्य कैसे हो सकती है। क्योंकि देहादि के उन्मग्न अथवा निमग्न होने से अर्थात् प्रधानतया उसकी प्रतीति होने से और न होने से ही चिति का कदाचित् होना जैसा मालूम पड़ता है। वस्तुतः यह कदाचित् होने वाली नहीं है। वह तो सदा ही प्रकाशमान रहती है। वस्तुतः चिति की ही स्वतन्त्रता से प्रकाशित देहादि के उन्मज्जन से ही चिति का कदाचित् क्त्वं प्रतीत होता है। चिति तो सदा ही प्रकाशमान रहती है। यदि चिति सदा प्रकाशमान न रहती तो देहादि का ही प्रकाश कैसे होता। इसीलिये देहादि में जो प्रमातृताभिमान है, अर्थात् मैं देह हूँ, ऐसा जो अभिमान है, उसके हटाने के लिये ही अभ्यास है, न कि सर्वदा प्रकाशमान जो प्रमातृता है, उसके लाभ के लिये। पूर्ण प्रमातृभाव तो सदा ही प्रकाशित होता है, उसकी फिर से प्राप्ति नहीं होती है।।

**टिप्पणी—**

और जब पुनः अभ्यास रूपी युक्ति द्वारा यह जीव इन्द्रियों के विकास और

संकोच का सम्पादन करने के उपरान्त सृष्टि तथा संहार के क्रम का विधान करना आरम्भ करता है। तब आत्म बल के प्राप्त होने पर विश्व को आत्मसात् करती है।

आत्मबल के प्राप्त होने पर चिति विश्व को आत्मसात् करती है। देह प्राणादि के द्वारा ढके होने पर भी चिति जब अपने आत्मस्वरूप को उन्मिषित करती है, तो आत्मबल को प्राप्त करती है। जैसे कहा गया है कि तब उस आत्मबल के प्राप्त करने पर मंत्र सर्वज्ञ अथवा सर्व शक्तिमान् हो जाते हैं। इस प्रकार उस आत्मबल की प्राप्ति के होने पर पृथ्वी तत्व से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को आत्मसात् करती है। जैसा कि आदि गुरुओं ने स्वरचित क्रम सूत्रों में भी कहा है।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि जलने योग्य पदार्थों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार प्रज्वलित चिति विषय रूपी पाशों का भक्षण कर लेती है। अर्थात् ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा विषय रूपी पाशों को दग्ध करके बन्धन मुक्त कर देती है। ऐसा कहना युक्त न होगा कि जिसने जगत् को आत्मसात् किया है, वह समावेश भूमिका-समाधि दशा-क्षणिक अथवा अस्थायी है। परन्तु यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि वस्तुतः देह आदि के प्रकट और अप्रकट होने से यह समावेश भूमिका-समाधि दशा-का कभी होना कभी न होना जैसा भासता है अथवा चिति के स्वातन्त्र्य द्वारा देह आदि के प्रकट होने पर इस समावेश भूमिका-समाधि दशा का कभी होना और कभी न होना प्रतीत होता है।

### टिप्पणी-

वास्तव में तो यह सदा ही विद्यमान रहती है। नहीं तो यह देहादि भी कभी प्रकाशित न होते। इसीलिये देह आदि की प्रमातृता एवं अभिमान के नाश के लिये ही अभ्यास आवश्यक है; न कि सर्वदा विद्यमान पूर्ण प्रमातृता के पाने के लिये, जो कि सदाप्रकाशमान ही है। श्री प्रत्यभिज्ञाकार का भी यही मत है—कि अभ्यास द्वारा जीव अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित होता है। वास्तव में उसे किसी नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। उसके अपने स्वभाव सिद्ध शिवमय स्वरूप की ही पुनः दीप्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि समाधि दशा सदा विद्यमान रहती है।

एवं च

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदादर्थ-  
जीवन्मुक्तिः ॥१६॥

विश्वात्मसात्कारात्मनि समावेशरूपे 'चिदानन्दे लब्धे' व्युत्थानदशायां  
दलकल्पतया देहप्राणनीलसुखादिषु आभासमानेषु अपि,  
यत्समावेशासंस्कारबलात् प्रतिपादयिष्यमाणयुक्तिक्रमोपवृहितात्  
चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदादर्थम्-अविचला चिदेकत्वप्रथा, सैव  
'जीवन्मुक्ति'-जीवतः प्राणान् अपि धारयते मुक्तिः;  
प्रत्याभिज्ञातनिजस्वरूपविद्राविताशेषपाशराशित्वात्। यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे-

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।  
स प्रश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥' इति ॥१६॥

(स्पन्दकारिका २.५)

शब्दार्थ-

इस प्रकार चिदानन्द के लाभ हो जाने पर देहादि के आभास रहने पर भी चित् के साथ एकात्मता का दृढ़ ज्ञान रूप जीवन मुक्ति योगी को होती है। टीकाकार कहते हैं कि विश्वस्वरूप हो जाना जो समावेश है, वही चिदानन्द का लाभ है। उसके हो जाने पर व्युत्थान अवस्था में भी अर्थात् देह भाव में आजाने पर भी दलकल्पतया-अर्थात् अपने ही फैलाव रूप से-देह, प्राण, नील, पीत, घट, पट, सुख आदि का मान होने पर भी-जो समावेश संस्कार के बल से आगे कहे जाने वाली युक्ति के क्रम से प्रज्वलित होने वाली चित् स्वरूपता का दृढ़ निश्चय होता है, अर्थात् अविचल कभी न हटने वाला-जो चिदेकत्व का प्रकाश होता है अर्थात् "मैं शुद्ध चेतना हूँ" ऐसा दृढ़ निश्चय होता है, वही जीवन मुक्ति है। अर्थात् जीते हुए ही मुक्त रहना है। क्योंकि अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होने से अर्थात् अपने भूले हुए स्वरूप का पुनः स्मरण हो जाने से सब पाश समूह नष्ट हो जाते हैं। इसलिये योगी जीवन-मुक्त हो जाता है। यही बात स्पन्दशास्त्र में भी कही गई है-अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान जिसको हो जाता है, वह सम्पूर्ण जगत् को खेल रूप से देखता हुआ सदैव योगयुक्त रहता है और जीवन्मुक्त रहता है, इसमें कोई संशय नहीं है। इति।

### टिप्पणी—

चिदानन्द लाभ के प्राप्त होने पर वस्तु वर्गों में तथा देह इत्यादि में निरन्तर उस आनन्द का अनुभव होने को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। विश्व को आत्मसात् करने वाले समावेश स्वरूप चिदानन्द के प्राप्त होने पर विश्व को आत्मा में लय करने वाली समाधि दशा की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् व्युत्थान काल में भी कोश (म्यान) की न्याई देह प्राण इत्यादि बाह्य और सुख दुख इत्यादि भीतर की वस्तुओं में समावेश के संस्कार के बल द्वारा चित्त की विश्रान्ति दशा की प्राप्ति होती है; अथवा समाधि के उपरान्त भी समाधि रसका संस्कार बना रहने के कारण चित्त की स्थिरता ही जीवन मुक्ति कही जाती है; अर्थात् जीवित होते हुए और प्राणों को धारण करते हुए भी मुक्ति होती है। पाशों का विच्छेद होने पर परमानन्द में स्थिति होना ही शिवत्व की प्राप्ति कहलाता है ॥

### टिप्पणी—

स्पन्दकारिका-निष्पन्द २ श्लोक-५-में कहा है कि जिस किसी योगी को इस प्रकार का ज्ञान होता है, वह स्वरूप के विकसित होने पर इस सम्पूर्ण जगत् को लीलामय देखता हुआ और निरन्तर समाहित रहता हुआ निःसंदेह जीवन मुक्त है। इस दशा में समाधि रस का संस्कार रहता है, जिसके प्रभाव से सर्वदा ही मानो एक आनन्द की मस्ती बनी रहती है। व्युत्थान काल में भी पुनः पुनः अन्तर्मुख भाव आते हैं ॥१६॥

अय कथं चिदानन्दलाभो भवति?—इत्वाह  
मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ॥१७॥

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तदिभित्तिलग्नतां विना च कस्यचित् अपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती ‘मध्यम्’। सा तु मायादशायां तथा भूतापि स्वरूपं गूहयित्वा—“प्राक् संवित्याणे परिणता”—इति नीत्या प्राणशक्तिभूमि स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादिभुवम् अधिशश्याना, नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता। तत्रापि च पलाशपर्णमध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्रात् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिब्रह्माश्रयमध्यमनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता; तत एव सर्ववृत्तीनाम् उदयात् तत्रैव च विश्रामात्। एवं भूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता।

यदा तु उक्तयुक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता संविद्भगवती विकसति, यदि वा वक्ष्माणक्रमेण मध्यभूता ब्रह्मनाडी विकसति, तदा 'तद्विकासात् चिदानन्दस्य', उक्तरूपस्य 'लाभः'-प्राप्तिर्भवति। ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः ॥१७॥

**सूत्र १७**—अब इस प्रकार से चिदानन्द की प्राप्ति होती है, सो कहते हैं कि मध्यविकास से चिदानन्द का लाभ होता है। टीकाकार कहते हैं कि सबके भीतर में अनुस्यूत अर्थात् विद्यमान होने से संविद् भगवती ही मध्य है। यदि पदार्थ संविद् में लगे हुए न रहते तो पदार्थों का कोई स्वरूप ही न होता। अतः संविद् ही मध्य है। वह संविद् माया स्थिति में रहती हुई भी अपने स्वरूप को ढककर पहले प्राणरूप में परिणत होती है। फिर अवरोह क्रम से, अर्थात् नीचे उतरने के क्रम से, बुद्धि, देह आदि के रूप को ग्रहण करती हुई सहस्रो नाड़ियों में आ जाती है। वहां पर भी पलाश के पत्ते की न्याई, अर्थात् जैसे पत्ते के बीच में एक रीढ़ जैसी रेखा होती है, उसी से संलग्न अनेक महीने-महीने रेखाएं फैली हुई रहती हैं, उसी प्रकार से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर, अर्थात् शिर के मध्य स्थान से लेकर, अधोवक्त्र पर्यन्त अर्थात् गुदा पर्यन्त, प्राण शक्ति रूपी ब्रह्म का आश्रय बनी हुई मध्य नाड़ी के रूप में प्रधानतया रहती है। उसी से सब वृत्तियों का उदय होता है और सब वृत्तियाँ उसी मध्य नाड़ी में विश्रान्त होती हैं। इस प्रकार से रहती हुई यह चित् शक्ति पशुओं के लिये अपने रूप को ढककर ही रखती है। परन्तु उक्त युक्तियों के क्रम से संविद् भगवती विकसित होती है। अथवा आगे कहे जाने वाले क्रम से मध्य में स्थित ब्रह्मनाडी विकसित होती है। तब उसके विकास से चिदानन्द का लाभ होता है। उससे पूर्वोक्त जीवन्मुक्ति मिलती है।

**टिप्पणी** :—मध्यधाम के विकसित होने से चिदानन्द का लाभ होता है। सब के भीतर व्यापक होने के कारण, अथवा विश्व से ओत प्रोत होने के कारण, वस्तुतः कुछ भी इसके अतिरिक्त है ही नहीं। केवल संविद् भगवती ही सबका माध्यम है। वही भगवती जीव दशा में मल के आवरण वश अपने स्वरूप को छिपा कर जीव का स्वांग धारण करती है। पहले पहल संविद् भगवती प्राण रूप में परिणत होती है। इस प्रकार प्राणशक्ति की भूमिका को स्वीकार कर अवरोह क्रम के द्वारा सूक्ष्म शरीर, बुद्धि तथा देह आदि भूमियों को स्वीकार करती हुई सहस्रों

नाडियों के मार्ग की अनुगामिनी बनती है। अर्थात् उनमें अनुसरण करती है। जीव दशा में भी प्रधानतया पलाश घेड़ के पत्ते के बीच वाली मध्य रेखा की न्याई यह मध्य नाड़ी के रूप में स्थित होती है : इसी मध्य दशा अथवा मध्य नाड़ी से ही सब वृत्तियाँ का उदय होता है और सब वृत्तियाँ वहीं पर विश्रान्त भी हो जाती हैं। यह मध्य नाड़ी सुषुम्ना नाड़ी कहलाती है। इस प्रकार होने पर भी वह मध्यदशा पशुओं अर्थात् अज्ञानियों में अपने स्वरूप का गोपन कर के ही स्थित है।

**टिप्पणी :**—पूर्वोक्त उपाय द्वारा सबके भीतर स्थित और मध्य बनी हुई संवित् भगवती जब विकसित होती है, तब उसके विकसित होने पर उक्त चिदानन्द की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप पूर्वोक्त जीवन्मुक्ति होती है।

जीव अथवा पशु मल से आच्छन्न होने के कारण मल के आवरण वश अपना शिवत्व भूल जाता है और जीव बनकर एवं कर्तृत्व भाव ग्रहण कर शुभाशुभ कर्म फल भोग के मायिक जगत में विभिन्न लोकों और देहों में अज्ञानी बन कर भ्रमण करता है। इस भ्रमण रूप चक्र के मूल में है, उसकी आत्म विस्मृति और इस विस्मृति की जड़ में मल की आवरण शक्ति है। यह परमेश्वर की स्वेच्छा से बनी है; एवं उनकी स्वेच्छा अथवा उनके अनुग्रह के द्वारा जब इस आवरण शक्ति का उन्मूलन होता है, तब जीव शिवत्व को प्राप्त करता है। यही उसकी जीवन मुक्ति है। प्राण आदि जड़ और अपारमार्थिक है। फिर भी उन पर अनुसन्धान-चिन्तन करने से वे भी स्वरूप प्राप्ति में सहायक बन जाते हैं। यह शक्ति स्पन्द मध्यकला के नाम से प्रसिद्ध है। इसी जाग्रत प्राण शक्ति का निरन्तर मनोयोग के साथ ईक्षण-विवेचन करते-करते आवेश की प्राप्ति हो जाती है। इसी को अभ्यास कहते हैं। ॥१७॥

### मध्यविकासे युक्तिमाह

**विकल्पक्षय - शक्तिसंकोचविकास-वाहच्छेदाद्यन्त - कोटिनिभालनादय इहोपायाः ॥१८॥**

‘इह’ मध्यशक्ति-विकासे ‘विकल्पक्षयादय’ उपायाः प्रागुपदिष्टपञ्चविध कृत्यकारित्वाद्यनुसरणेन सर्व-मध्य-भूतायाः संविदो विकासो जायते इति

अभिहित प्रायम्।

उपायान्तरम् अपि तु उच्यते;—प्राणायाम-मुद्राबन्ध  
दिसमस्तयन्त्रणातन्त्रब्रोटनेन सुखोपायमेव, हृदयेनिहितचित्तः उक्तयुक्तया  
स्वस्थितिप्रतिबन्धकं विकल्पम् अकिंचिच्छिन्तकत्वेन प्रशामयन्  
अविकल्परामर्शेन देहाद्यकलुष-स्वचित्प्रमातृतानिभालनप्रवणः अचिरादेव  
उन्मिषद्विकासां तुर्यतुर्यातीतसमावेशदशाम् आसादयति यथोक्तम्—

विकल्पहानेनैकाग्रयात्क्रमेणेश्वरतापदम्।

इति श्री प्रत्यभिज्ञायाम्।

( ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ४.९.२ )

श्री स्पन्देऽपि ( १.९ )

‘यथा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्।।’ इति

श्री ज्ञानगर्भेऽपि—

“विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो,  
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्रोज्ज्वलम्।

स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा,  
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी॥”

इति। अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात्  
आदौ उक्तः। शक्ति संकोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः,  
तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते; बहुषु हि प्रदर्शितेषु  
कश्चित् केनचित् प्रवेक्ष्यति इति।

“शक्तेः संकोच” इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एव आकुञ्चनक्रमेण  
उन्मुखीकरणम्। यथोक्तम् आर्थर्वणिकोपनिषत्सु कठवल्ल्यां  
चतुर्थवल्लीप्रथममन्त्रे -

‘पराजिच खानि व्यतृणत्स्वयंभू—  
स्तस्मात्पराडःपश्यति नान्तरात्मन्।  
कश्चिद्द्वीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्  
आवृत्त चक्षुरमृतत्वमशनन्॥’

इति— प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसंकोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च सर्वतो निवर्तनम् ।। यथोक्तम्—‘तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः ।’

इति ।

‘शक्तेर्विकासः’ अन्तर्निंगृद्वाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन ‘अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।’

इति । भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्तया बहिः प्रसरणम् । यथोक्तं कक्ष्यास्तोत्रे-

‘सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः  
स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक् ।  
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूत—  
स्तिष्ठन्विश्वाधार एकोऽवभासि ॥’

इति । श्री भट्टकललटेनापि उक्तम्

‘रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः ।’

इति शक्तेश्च संकोचविकासौ,—नासापुटस्पन्दनक्रमोन्मिष्टत्-सूक्ष्मप्राणशक्त्या भूभेदनेन क्रमासादितो धर्वकुण्डलिनीपदे प्रसरविश्रन्तिदशापरिशीलनम्; अथःकुण्डलिन्यां च षष्ठवक्त्ररूपायां प्रगुणीकृत्य शक्ति, तन्मूल-तदग्र तन्मध्यभूमिस्पर्शावेशः । यथोक्तं विज्ञानभट्टारके-

‘वह्नीर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत् ।

केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ॥’ (विज्ञानभैरवे, ६८)

इति । अत्र बहिः अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूः विषस्थानम् प्रसरयुक्त्या विकासपदम् ‘विष्लृव्याप्तौ’ इति अर्थानुगमात् ।

‘वाहयोः’—वामदक्षिणगतयोः प्राणापानयोः ‘छेदो’ हृदय विश्रान्तिपुरःसरम् अन्तः ककारहकारादिप्रायानच्कवर्णोच्चारेण विच्छेदनम् । यथोक्तं ज्ञानगर्भे

‘अनचक्ककृतायतिप्रसृतपाश्वर्नाडीहृदयच्छिदो विधृतचेतसो  
हृदयपङ्कजस्योदरे ।

उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याड्कुरो, य एष परमेशतां जनयितुं  
पशोरप्यलम् ॥’ इति ॥

‘आदि कोटि:’ हृदयम् ‘अन्तकोटि:’ द्वादशान्तः; तयोः  
प्राणोल्लासविश्रान्त्यवसरे ‘निभालनं’—चित्तनिवेशनेन परिशीलनम् । यथोक्तं  
विज्ञानभैरवे—

‘हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः

अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमानुयात् ॥’ इति ॥ तथा

‘यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेवैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥’ (तदेव, धारण : ५१)

इति । आदिपदात् उन्मेशदशानिषेवणम् । यथोक्तम्—

‘उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥’ इति स्पन्दे ( ३.६ ) ।

तथा रमणीय विषयचर्वणादयश्च संगृहीताः । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे

( ७२,७३,७४ ) एव

‘जग्धपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।

भावयेद्भरितावस्थां महानन्दामयो भवेत् ॥

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।

योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरुद्घेस्तदात्मता ॥

यत्र तत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव-धारयेत् ।

तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते ॥’ इति ।

एवमन्यदपि आनन्दपूर्णस्वात्मभावनादिकम् अनुमन्तव्यम् ।

इत्येवमादयः अत्र मध्यविकासे उपायाः ॥१८॥

सूत्र १८ — मध्य विकास में युक्ति या उपाय कहते हैं अर्थात् मध्यदशा के विकसित होने के लिये अब युक्ति या साधन कहते हैं । विकल्प का क्षय शक्ति संकोच विकास, वाहच्छेद, आदि कोटि और अन्त-कोटि का परिशीलन आदि, मध्य विकास में उपाय हैं । टीकाकार कहते हैं यहाँ अर्थात् मध्यविकास में विकल्प क्षय आदि उपाय हैं । पूर्व वर्णित पंचाविधकृत्यकारित्व में अनुसरण करने से

सबके मध्य जो संविद् है, उसका विकास होता है। यह तो पहले ही लगभग कहा गया है। दूसरे उपाय भी कहे जाते हैं। प्राणायाम तथा मुद्रा बन्ध आदि से होने वाली यंत्रणाओं का परित्याग करने से सुखरूपक ही चित्त को हृदय में ठहराकर, स्वरूप में स्थित होने में बाधा बने हुए विकल्प जाल को अकिञ्चित चिन्तनात्मक अभ्यास के द्वारा शान्त करता हुआ योगी अविकल्प परामर्श के द्वारा देहादि से अकलुषित देहाभिमान से रहित, जो चित्त याने चेतन प्रमातृता हैं, उसको देखने मात्र से ही, योगी शीघ्र क्रम से विकसित होती हुई तुर्या तुर्यातीत समावेश दशा को पा लेता है। जैसे कि प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि विकल्पों का नाश करने से एकाग्रता हो जाने से क्रमशः ईश्वर स्वरूपता प्राप्त होती है। श्री स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि जब क्षोभ याने विकल्प जाल प्रलीन होता है, तब परमपद को प्राप्त हो जाता है। श्री ज्ञानगर्भ स्तोत्र में भी कहा गया है कि हे जननि, मातः, मानसिक सब क्रियाओं का त्याग करके इन्द्रियों की क्रियाओं का अनुसरणरूपी जो पारतंत्र्य है, उससे छुटकारा पा जाने से अर्थात् इन्द्रियों की अधीनता से छुटकारा पा जाने से मनुष्य आपकी कृपा से शीघ्र ही उस उज्ज्वल परदशा को पा जाते हैं जिस दशा में लगातार उद्भूत सुखरूप अमृत रस टपकता रहता है। ॥इति ॥

### टिप्पणी-

हे माता! सब ओर से मन की क्रियाओं को त्याग कर और इन्द्रियों के व्यापार से रहित, प्रकाशमान स्थिति में आरूढ़ आलस्य रहित पुरुषों को उसी क्षण आपके अनुग्रह से परादशा की प्राप्ति होती हैं, जो परादशा अलौकिक सुखरूपी अमृत का अजस्त्र स्त्रीत प्रवाहित करने वाली है (अमृतस्पन्दनी है)।

**शब्द अर्थ –** यह जो विकल्पक्षयरूप उपाय है यही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में भी कहा गया है। सर्वप्रथम यही कहा गया है।

शक्ति संकोच आदि उपाय यद्यपि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में नहीं कहे गए हैं, तो भी आगम शास्त्रों में कहे गए हैं, अतः प्रसंगवश मैं क्षेमराज उनका प्रतिपादन करता हूँ; क्योंकि बहुत से उपायों का प्रदर्शन किए जाने पर अपने अधिकारानुसार कोई भी किसी भी उपाय से समाविष्ट हो सकता है।

शक्ति का संकोच है इन्द्रियों के मार्ग से फैलती हुई शक्ति को अर्थात् विषयों

में जाती हुई शक्ति को क्रम से आकुंचन करके अर्थात् समेट कर आत्मोनुख करना। जैसा कि अथर्ववेद के उपनिषद् में कठवल्ली शाखा में चतुर्थ वल्ली के प्रथम मन्त्र में भी कहा गया है कि स्वयंभू ने बाहर की ओर पांच इन्द्रियों को खोल दिया है, जिससे जीव बाहर की ओर देखता है अपनी अन्तरात्मा की ओर नहीं देखता। कोई धैर्यवान् पुरुष नेत्रों को अथवा सब इन्द्रियों के द्वारों को बाहर से रोक कर अपनी आत्मा को देखता है और अमृत का उपभोग करता है। सब ओर फैली हुई इन्द्रियों की शक्ति को सब विषयों से संकुचित कर लेना ही शक्ति संकोच है। जैसा कि कहीं कहा गया है कि इन्द्रियों के विषयों से शक्ति के खींच लिए जाने पर नित्य उदित, सदा प्रकाशित अपनी स्थिति अर्थात् स्वसमाधि प्राप्त होती है।

शक्ति का विकास यह है कि अन्तर्निहित अपनी शक्ति को अक्रम से ही अर्थात् एकाएक ही सब इन्द्रियों को फैला देते हुए भीतरी लक्ष्य पर ठहराते हुए और नमेष तथा उन्मेष के बिना दृष्टि को बाहर की ओर खुला रखते हुए अर्थात् पलकों की गति को छोड़कर दृष्टि को स्थिर रखते हुए भैरवीय मुद्रा में प्रविष्ट होने की युक्ति के द्वारा दृष्टि बाहर खुली रहे - यही है शक्ति का विकास। जैसा कि कक्ष्यास्तोत्र में कहा गया है कि चित के द्वारा अर्थात् मन के द्वारा सब इन्द्रिय शक्ति को अर्थात् देखना आदि क्रियाओं को अपने-अपने विषयों के क्रम रहित एक ही बार फैलाए हुए तथा स्वयं मध्य में स्वर्ण स्तम्भ की न्याई स्थित हो। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का आचार बने हुए एक तुम ही ठहरे हो - ऐसा कहा है। ॥ इति ॥

श्री कल्लट ने भी कहा है कि रूपादि विषयों में परिणत-परिवर्तित हो जाने से उसकी सिद्धि अर्थात् स्वरूप की सिद्धि होती है।

शक्ति के साथ-साथ ही संकोच और विकास ये हैं। नासिका के दोनों पोरों में स्वप्रयत्न द्वारा होने वाले स्पद्दन के क्रम से उठती हुई सूक्ष्म प्राण शक्ति के द्वारा भूमध्य को भेदन करके क्रम से ऊर्ध्वकुण्ठलिनी पद में प्रसर और विश्रान्त दशाओं का परिशीलन करना अर्थात् उसको अवधान दृष्टि से देखते रहना। इसी प्रकार अधः कुण्डलिनी में जो पष्ठवक्त्र कहलाती है, उसमें अर्थात् लिंग की जड़ में शक्ति को खूब बढ़ा करके उसके प्रारम्भ में अर्थात् मूल में अग्र में अर्थात् अन्त में तथा मध्य से स्पर्श की प्रतीति हो, यही शक्ति के एक साथ संकोच विकास है; जैसा कि विज्ञानभैरव में कहा है-वहि और विष के बीच में सुखमय मन को

ठहराए। षष्ठवक्त्र का मूल स्थान ही वहिं है क्योंकि वह संकोच करता है। विष का अर्थ है व्यापन-फैलाव अर्थात् षष्ठवक्त्र का अन्त। उन दोनों के बीच में मध्य नाड़ी उसी में मन को रखे। वह वायु सहित हो या वायु के बिना ही हो। तब कामजन्य आनन्द मिलने लगता है। टीकाकार कहते हैं कि यहां पर प्रवेश के क्रम से संकोच होने वाला स्थान वही है अर्थात् मूल है क्योंकि लिंग संकुचित होकर मूल में ही प्रविष्ट हो जाता है। और विष स्थान विकास स्थान है। विष्णुण्याप्तौ धातु से विष शब्द बना है जिसका अर्थ है प्रसर होना।

अब वाहच्छेद कहते हैं—बाह वाम-दाहिने-में स्थित प्राण अपान होते हैं। उनका छेदन अर्थात् हृदय में उनको स्थित करके भीतर में ही ककार हकार आदि वर्णों का अच् रहित उच्चारण करते रहना और उससे उनका विच्छेदन करना अर्थात् हृदय में ही प्राण, अपान का चलना बंद हो जाना यही वाहच्छेद होता है। जैसा कि ज्ञानगर्भस्त्रोत्र में भी कहा है कि स्वररहित ‘क’ के द्वारा अर्थात् इसके जप के द्वारा फैली हुई दोनों नाड़ी जिसकी कट गई है एवं हृदय कमल के भीतर रखा हुआ चित्त-मन जिसका, अतएव जिसका हृदयान्धकार कट कट गया है, उसको वह विधा कुरं अर्थात् ज्ञान उद्दित हो जाता है जो ज्ञान पशु को भी परमेश्वर बनाने में समर्थ होता है। |इति ॥

अब आद्यन्त कोटि निभालन की व्याख्या इस प्रकार है—आदिकोटि हृदय को और अन्त कोटि द्वादशान्त को कहते हैं। नाक के पोरों से निकलकर प्राण बारह अंगुल बाहर जाकर फिर लौटता है। उस लौटने के स्थान को ही अन्त कोटि कहते हैं। उन दोनों स्थानों में प्राण के उठने और शान्त होने के समय में निभालन करना अर्थात् मनोयोगपूर्वक उसको अवधान दृष्टि से देखते रहना आद्यान्त कोटि निभालन होता है। जैसा कि विज्ञानभैरव में कहा है जिसका मन हृदयाकाश में लीन है और जो हृदय कमल के बीच में स्थित है, एवं अनन्यचित्त है जिसका—हे सुभगे पार्वती। वही परम सौभाग्य को प्राप्त करता है। और भी कहा है कि जिस किसी तरह जहां कहीं भी रहता हुआ द्वादशांत में मन को समाहित रखे, तब उसकी प्रतिक्षण में चित्त वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और कुछ ही दिनों में उस पुरुष में विलक्षणता आ जाती है। |इति ॥

सूत्र में ‘आदि’ पद से उन्मेष दशा को देखना कहा गया है। जैसा कि स्पन्द में

भी कहा गया है—एक चिन्ता के बाद जो दूसरी आती है, वह जहाँ से उत्पन्न होती है, उसी का नाम उन्मेष है, उसको स्वयं ही देखना चाहिए। इसी प्रकार आदि पद से अच्छे-अच्छे विषयों का उपभोग आदि भी लिखा गया है। जैसा कि विज्ञानभैरव में भी कहा गया है कि खाने-पीने आदि से या देखने सुनने आदि के उल्लास से जो आनन्द रस का उछाल होता है उससे अपनी पूर्णविस्था की भावना करनी चाहिए। उसके द्वारा महानन्दमय अवस्था प्राप्त होती है। सगीत आदि विषयों के आस्वादन से भी अनुपम सुखमय अद्वैत अवस्था को प्राप्त करके योगी को तन्मयता से आनन्दमयता हो जाती है क्योंकि मन अभेद में आरूढ़ हो जाता है। और भी कहा है कि जहाँ पर मन की तुष्टि हो, अर्थात् संतोष हो, वही वहीं पर मन को लगाए रहे, तब उसको उसी स्थान में परमानन्दस्वरूप प्रकट होने लगता है। इति ॥

इस प्रकार से और उपाय भी यहाँ माने जाने चाहिए। जैसे कि आनन्दपूर्ण अपने आपकी भावना को बनाए रखने से भी परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है; ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार के सभी अभ्यास इस मध्यविकास के उपाय होते हैं।

### टिप्पणी—

विकल्पों का क्षय अर्थात् चित्त विश्रान्ति, शक्ति का संकोच तथा विकास, स्वाभाविक प्राणायाम अर्थात् प्राण और अपान का लय करना, आदि और अन्त कोटि अनुसंधान अर्थात् बाह्य द्वादशान्त और अन्तर द्वादशांत पर अनुसन्धान करना ही उपाय कहे गए हैं।

### टिप्पणी—

यहाँ मध्य शक्ति के विकसित होने पर विकल्पों का क्षय हो जाता है, यही यहाँ उपाय कहा गया है। पूर्व उपदिष्ट पंचकृत्यों के कर्तृत्व आदि के अनुसरण के द्वारा ही सबके मध्य में स्थिति जो सुषुम्ना नाड़ी है उसी में संवित् का विकास उत्पन्न होता है यही यहाँ पर कहने का अभिप्राय है।

संकोच और विकास से स्थान विशेष में निरोध समझना चाहिए। चित्त विश्रान्ति के अनन्तर-उपरान्त-परमपद के साक्षात्कार की आकांक्षा होती है। यह

साक्षात्कार यद्यपि अत्यन्त दुःसाध्य-दुष्प्राप्य है, तथापि जिसका चित्त विश्रान्त हो चुका हो, उसके लिये तनिक सुसाध्य-सुगम-हो जाता है। श्री सद्गुरु की परम कृपा बिना यह चित्त विश्रान्ति अत्यन्त दुष्प्राप्य है। अन्य उपाय भी कहता है ॥।। प्राणायाम मुद्राबन्ध आदि सब यन्त्रणाओं को तोड़ कर सहज ही सुखोपाय की प्राप्ति हो सकती है। उक्त युक्ति के अनुसार सर्वित् में समाहित-चित्त होकर पूर्ण स्थिति में जो विकल्प बाधक हैं, उनका शमन करके अर्थात् सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर अविकल्प के परामर्श से देह के विकार से रहित अपने चित्त प्रमातृत्व के चिन्तन में निमग्न योगी उसी क्षण तुर्या तथा तुर्यातीत समाधि दशा को प्राप्त करता है। जैसा कि श्रीईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा है—विकल्पों का क्षय होने पर और एकाग्रता के द्वारा धीरे-धीरे ईश्वर दशा की प्राप्ति होती है ॥।।

श्रीस्पन्दशास्त्र में भी इसी प्रकार कहा गया है—कि जब विकल्परूपी मानसिक क्षोभ का शमन हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है।

श्रीज्ञानगर्भ में भी इसी तरह कहा है—हे माता! सब ओर से मन की क्रियाओं को त्याग कर और इन्द्रियों के व्यापार से रहित प्रकाशमान स्थिति में आरूढ़, आलस्य रहित पुरुषों को उसी क्षण आपके अनुग्रह से परादशा की प्राप्ति होती है। जो परादशा अलौकिक सुख रूपी अमृत का अजस्त स्रोत प्रवाहित करने वाली—अमृत स्पन्दिनी है ॥।।

विकल्पों का क्षय रूपी उपाय ही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित होने के कारण सर्वप्रथम कहा गया है। शक्ति के संकोच आदि का प्रतिपादन यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में नहीं कहा गया है, फिर भी आम्नाय अर्थात् गुरु और शास्त्र द्वारा कहे हुए होने के कारण मैं क्षेमराज भी प्रसंग वश इन उपायों को कहता हूँ क्योंकि बहुत से उपाय कहने पर संभव है कि किसी न किसी उपाय द्वारा साधक मुक्त हो जावे। संकोच का अर्थ है—इन्द्रियों के द्वारों से जो शक्ति का बाह्य मुख प्रसर हो रहा है बाह्य पदार्थों के प्रति, उसी प्रसर को पुनः लौटा कर स्वरूप के समुख करना। जैसा कि अर्थवेद के उपनिषद् में कठवल्ली शाखा में चतुर्थ वल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा है—स्वयंभू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है इसलिये सब मनुष्य बहिर्मुख देखते हैं। अन्तर्मुख आत्मावस्था को नहीं देखते। कोई विरला

शक्तिपात से युक्त धीर पुरुष ही आत्मा को देखता है, नेत्रों के पट बन्द करके इन्द्रियों को लय करता हुआ अमृत का पान करता है अथवा जिस प्रकार कछुआ भय के कारण अपने अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार जो शक्ति बाहा की ओर प्रसृत हो रही है, उसे हर ओर से समेट कर आत्मावस्था में स्थित करना ही आत्मा का साक्षात्कार करना है। जैसे कहा है कि इन्द्रियों की उस आत्मावस्था की ओर विपरीत गति होने पर नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है। जब विरुद्ध शक्तियों का शमन होता है तथा जब साधक या योगी शिव रूपी स्वात्मा की ओर अभिमुख होता है, तब उसे नित्य समाहित स्थिति की प्राप्ति होती है ॥

गुप्त रूप से स्थित संवित् पर अनुसन्धान करने से तथा इन्द्रियों के विकास द्वारा ही शक्ति का विकास होता है। अपलक दृष्टि द्वारा देखने रहने पर अन्तर्लक्ष्य होकर योगी स्वयं ही आत्मावस्था का अनुभव अपने ही भीतर करता है अथवा नेत्रों के पट खुले रहें परन्तु लक्ष्य भीतर हो तो योगियों को नित्य समाहित स्थिति की प्राप्ति होती है। इस भैरवीय मुद्रा की युक्ति द्वारा ही बाह्य प्रसरण सम्भव है। कक्ष्यास्तोत्र में ऐसा कहा है कि अपनी इच्छा से मन के द्वारा सब ओर से इन्द्रियों को अपने अपने विषयों पर अर्थात् अपने अपने प्रमेय पर लगा कर स्वयं को मध्य में स्वर्ण स्तम्भवत् जो देखता है वह शंकर स्वरूप ही है और विश्व का आधार है ॥

इस उपाय में इन्द्रियों के द्वारों को रोकना नहीं वरन् अपने अपने विषयों पर छोड़ देना है और स्वयं अन्तर्लक्ष्य पर स्थिर रहना है जिसके द्वारा योगी जनों को नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है ।

श्री भट्टकल्लट ने भी इस प्रकार कहा है—रूप आदि में परिवर्तन होने से भी उस पद की प्राप्ति होती है ॥

**संकोच और विकास—**मध्यवाहिनी शक्ति के स्पन्दन तथा विश्रान्ति द्वारा ही सम्पन्न होता है अर्थात् मध्यवाहिनी शक्ति में जब स्पन्दन उत्पन्न होता है, तब उस शक्ति को प्राण शक्ति कहते हैं। वही प्राण शक्ति नासापुट द्वारा अधो-नीचे और ऊर्ध्व-ऊपर संचारण करती है और अभ्यास के द्वारा जब यह सूक्ष्म होती जाती है, तो परा प्राण के रूप में भ्रूमध्य में इसे स्थिर करने से, भ्रूभेदन द्वारा ऊर्ध्वकुण्डलिनी

के प्रसर और विश्रान्ति दशा की प्राप्ति होती है। यह अधः कुण्डलिनी स्थान षष्ठवक्त्र में स्थित है। प्राण शक्ति के घनीभूत होने पर जहां प्रवेश द्वार है उसके मध्य मूल और अग्र भूमि के स्पर्शविशेष से युक्त होना ही अधः कुण्डलिनी के संकोच विकास होते हैं, जैसा कि विज्ञानभट्टारक शास्त्र में कहा है—अधः कुण्डलिनी पद में—षष्ठवक्त्र (गुदाद्वार) या वहि संकोच स्थान है, और विष स्थान विकास स्थान है जो षष्ठवक्त्र का अन्त है। इन दोनों के मध्य, जो मध्य नड़ी है, उसमें मन को रखे अर्थात् चित् को सुखपूर्वक लगाना चाहिए, वह वायु सहित हो या वायु रहित हो, तब योगी को स्मरानन्द की अनुभूति होती है।

यहाँ वहि का अभिप्राय अनुप्रवेश क्रम द्वारा संकोच भूमि है। विष स्थान प्रसर से युक्त होने के कारण विकास पद का द्योतक-सूचक है। दोनों बायीं दायीं ओर स्थित प्राण और अपान की अथवा इडा और पिंगला मार्ग की गति अकस्मात् कभी रुक जाती है। किसी अन्य कारण से अथवा चकित मुद्रा आदि के द्वारा। उस समय हृदय जो विश्रान्ति का स्थल है, उसे वहाँ ही रोकना चाहिए, कहीं अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिए॥

निरन्तर (क) व (ह) आदि वर्णों का उच्चारण करने से मन की निश्चल स्थिति होती है। इसी को ज्ञानगर्भ सूत्रों में ऐसा कहा है—हे माता! पशु दशा में भी यदि किसी का हृदयरूपी कर्णिका में मन समाहित हुआ है तथा इडा व पिंगला नाडियों में जिसकी प्राणवायु स्थिर हो गई है अथवा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है वह यदि स्वर अथवा अच् के बिना उच्चारण करे तो वह परमशिव दशा को ही भली भाँति प्राप्त करता है॥

प्रथम स्थान “आदि कोटि” हृदय है और बाह्य द्वादशान्त अन्त कोटि है। जो कि १२ अंगुल पर बाहर स्थित है अर्थात् नासिका के अग्र भाग से १२ अंगुल पर। इन दोनों द्वादशान्तों के मध्य में प्राण और अपान का निरन्तर उदय तथा अस्त होता रहता है। हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक और बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक प्राणों के क्रम के इस अवसर पर मन को दोनों सन्धि स्थानों में से किसी एक स्थान पर ही दृढ़ता से स्थिर करने से चित्त लयीभूत हो जाता है।

विज्ञानभैरवशास्त्र में कहा है—हे सुन्दरी (पार्वती)! हृदय कमल की कर्णिका

के मध्य में जो एकाग्रता करता है वह परम सौभाग्य को प्राप्त करता है, जिस किसी प्रकार से भी सब ओर से मन को प्रतिक्षण एकाग्र करता हुआ जो साधक उसे द्वादशान्त में स्थिर करता है, उसकी वृत्तियाँ क्षण प्रति क्षण क्षीण होती जाती हैं और शीघ्र ही कुछ दिनों में ही वह विलक्षण दशा को प्राप्त करता है। सूत्र में कहे गए आदि पद से मध्यवर्ती दशा अर्थात् उन्मेष दशा के परिशीलन की ओर संकेत किया गया है। जैसा स्पन्द शास्त्र में कहा है कि उस उन्मेष दशा को अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है। यहां आदि पद से रमणीय विषयों के आस्वादन पर सावधान रहने आदि के अभ्यासों का भी संग्रह किया गया है। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है—स्वादिष्ट पेयों के पान तथा स्वादिष्ट द्रव्यों—पदार्थों, के रसास्वादन द्वारा उल्लास रस के आनन्द से युक्त जो योगी अपनी आपकी परिपूर्णता की भावना में समाहित रहता है, उसे विकास द्वारा महानन्द की अनुभूति होती है। मधुर मधुर गीत आदि विषयों का अस्वादन करने से योगी जनों को उसमें तन्मयता होने पर, आत्म दशा की प्राप्ति होती है। जहाँ जहाँ मन को संतोष मिले वहाँ—वहाँ ही मन को स्थिर करना चाहिए और उन—उन स्थानों से ही योगी को परमानन्द स्वरूप की अनुभूति होती है। इसी प्रकार दूसरे उपाय आनन्द पूर्ण स्वात्म भावना आदि मानने चाहिए। सूत्र में उक्त मध्य विकास के अन्य उपाय इसी प्रकार के हैं ॥

### टिप्पणी—

इन्द्रियों को तृप्त करने वाले शब्द स्पर्श आदि जितने विषय हैं, वास्तव में उनके द्वारा आत्मदेव की ही पूजा होती है। इसे स्वाभाविक पूजा भी कहा जा सकता है। विषयानुभवजन्य आनन्द ही महानन्द के साथ मिलने पर अद्भुत परमानन्द स्वरूप अवस्था का उदय कराता है। इस अवस्था में बाहर अथवा भीतर किसी भी विषय में मन की प्रवृत्ति होने पर भी उसमें संस्कार के लिये स्थान नहीं रहता। कारण यह कि सर्वव्यापक परमेश्वर ही विषयमात्र के भीतर सर्वदा विद्यमान रहता है। उसकी सत्ता से ही विषय की सत्ता है और उसके प्रकाश द्वारा ही विषय प्रकाशित होता है। यह सब आगमों में कथित है। अथवा परमेश्वर की चैतन्य शक्ति ही सब विषयों में प्रकाशित अभिव्यक्त होती है। इस अवस्था की प्राप्ति हो जाने से विषय मात्र में भगवत् बुद्धि हो जाती है और अज्ञान की जड़ नष्ट हो जाती है ॥

मध्यधाम के विकास के लिये अथवा उस आनन्दपूर्णावस्था को प्राप्त करने के लिये पूर्वोक्त उपायों के अतिरिक्त अन्य-अन्य उपाय भी कहे हैं। मध्यधाम के विकास के द्वारा सच्चिदानन्दलाभ की प्राप्ति होती है। वह आनन्दलाभ से युक्त अवस्था परम योगी जनों की समावेश युक्त समाधि दशा ही है। उस समाधि के प्राप्त होने पर नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है। इसी को नित्योदित समाधि कहते हैं।।

**मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः, स एव च परमयोगिनः  
समावेशसमापत्त्यादिपर्यायः समाधिः। तस्य नित्योदितत्वे युक्तिमाह-**

**समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदित  
समाधिलाभः।। १६।।**

आसादित समावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधिरससंस्कारेण क्षीव इव सानन्द घूर्णमानो, भावराशिं शरदभ्लवम् इव चिदगगन एव लीयमानं पश्यन्, भूयो भूयः अन्तमुखताम् एव समवलम्बमानो, निमीलनसमाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन् व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति। यथोक्तं क्रमसूत्रेषु –

‘क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः, आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते;—इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः’ ॥ इति ॥ अत्रायमर्थः: सृष्टि-स्थिति-संहति-संविच्चक्रात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात्करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः, तया ‘क्रममुद्रया;’ ‘अन्तरिति’—पूर्णहन्तास्वरूपया; ‘बहिर्मुख’—इति विषयेषु व्यापृतः अपि; ‘समाविष्टः’ साक्षात्कृतपरशक्तिस्फारः ‘साधकः’ परमयोगी भवति। तत्र च ‘बाह्याद्’ ग्रस्यमानात् विषयग्रामात् ‘अन्तः’ परस्यां चित्तिभूमौ, ग्रसनक्रमेणैव ‘प्रवेशः’—समावेशो भवति। ‘आभ्यन्तरात्’ चितिशक्तिस्वरूपात् च साक्षात्कृतात् “आवेशवशात्”—समावेशसामर्थ्यात् एव ‘बाह्यस्वरूपे’—इदन्तानिर्भासे विषयग्रामे, वमनयुक्त्या ‘प्रवेशः’—चिद्रसाश्यानता—प्रथनात्मा समावेशो जायते;—इति ‘सबाह्याभ्यान्तरः अयं’ नित्योदितसमावेशात्मा,

‘मुदो’—हर्षस्य वितरणात् परमानन्द स्वरूपत्वात् पाशद्रावणात् विश्वस्य अन्तः  
तुरीयसत्तायां मुद्रणात् च मुद्रात्मा, क्रमः अपि सृष्ट्यादिक्रमाभासकत्वात्  
तत्क्रमाभासस्वरूपत्वात् च ‘क्रम’ इति अभिधीयते इति ॥१६॥

### शब्दार्थ—

मध्यधाम के विकास द्वारा सच्चिदानन्द (लाभ) की प्राप्ति होती है। वह आनन्द लाभ से युक्त अवस्था परम योगी जनों की समावेशमयी समाधि दशा ही है। उस समाधि के प्राप्त होने पर नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है। इसी को नित्योदित समाधि कहते हैं।

**टिप्पणी :-** मध्यविकास से चिदानन्द स्वरूप का लाभ होता है। वही परम योगी का समावेश समाप्ति और समाधि है। उस समाधि के सदा प्रकाशित रहने की युक्ति कहते हैं—

**सूत्र १६** — समाधि के संस्कार से युक्त व्युत्थानावस्था के काल में भी उसे (योगी को) पुनः-पुनः चिदरूपता का परामर्श होने से नित्योदित समाधि का लाभ होता है।

टीकाकार कहते हैं कि जो योगीप्रवर समावेश को पा लेता है, वह समाधि से उठने पर व्युत्थानावस्था में भी समाधि के आनन्द के संस्कार द्वारा मतवाला जैसा आनन्द सहित झूमता रहता है। यह सारे संसार को शरत्कालीन बादल के लेश की न्याई चिदाकाश में ही लीन होता हुआ देखता-देखता पुनः-पुनः अन्तर्मुखता का ही आश्रय लेता हुआ निमीलन समाधि क्रम की चिन्मयता को ही विचारता हुआ व्युत्थान समय में भी समाधिरस से भरा रहता है। इसी बात को क्रमसूत्र भी कहा है—कि क्रम मुद्रा में जो अन्तः स्वरूपा होती है उसके द्वारा साधक बहिर्मुख होता हुआ भी समाविष्ट ही रहता है। उस क्रम मुद्रा के प्रारम्भ में आवेश के द्वारा बाहर से अन्तः प्रवेश होता है। एवं भीतर से बाहर स्वरूप में प्रवेश होता रहता है। इस प्रकार बाहर भीतर समानरूप से क्रम मुद्रा मुद्रित होती है। टीकाकार इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसका तात्पर्य यह है—कि तुर्या चेतना सृष्टि, स्थिति और संसार की संविदों के चक्र के रूप में ठहरे हुए क्रम का मुद्रण करती है अर्थात् अपने भीतर ठहरे हुए उस क्रम को अपनी ही अधीनता में ठहराती है। अतः जो

यह तुर्या चित् शक्ति है, वही क्रम मुद्रा भी है। अतः उस क्रम मुद्रा से अन्तः अर्थात् पूर्णाहन्ता स्वरूप से बहिर्मुख, अर्थात् विषयों में प्रविष्ट रहने पर भी समाविष्ट बना हुआ, अर्थात् पर शक्ति के स्फार अर्थात् विकास को जिसने साक्षात् कर लिया है, ऐसा साधक परमयोगी होता है। उस मुद्रा में बाह्य से अर्थात् ग्रस्यमान विषय समूहों से, अर्थात् विषयों को ग्रहण करने से, अन्तः अर्थात् पराचित् भूमि में ग्रसन क्रम से प्रवेश अर्थात् समावेश होता है। एवं आध्यन्तर से अर्थात् चिति शक्ति स्वरूप से, जिसको साक्षात् कर लिया है उससे, आवेशवशात् अर्थात् समावेश के सार्थ्य से ही बाह्यस्वरूप में अर्थात् इदन्तया साममान विषय समूहों में वमन युक्ति से प्रवेश आर्थाता चिद्रम का घनीथाव आसित होने पर समावेश प्राप्त होता है। अः 'सबाह्याभ्यन्तरः अयं' अर्थात् नित्योदित समावेश स्वरूप है और मुद अर्थात् हर्ष को वितरण करने से परमानन्द स्वरूप होने से एवं पाशों को विदारण करने से संसार को भीतर से अर्थात् तुरीय सत्ता से मुद्रण करने से अर्थात् अंकित करने से मुद्रास्वरूप है, एवं उसके क्रम के आभास रूप होने से भी क्रम कहलाता है। इति ॥

**टिष्पणी:-** व्युत्थान काल में भी समाधि का संस्कार बना ही रहता है। उस दशा में पुनः-पुनः चित् के साथ अपने तादात्म्य का विमर्श करने से नित्योदित समाधिदशा की प्राप्ति होती है। परम योगियों को समावेश अथवा समाधि दशा के प्राप्त होने पर व्युत्थान काल में भी समाधि रस का संस्कार रहता है, जिसके प्रभाव से सर्वदा ही एक आनन्द का नशा बना रहता है। वह नशा आनन्द की धूर्णि कहलाती है। तब प्रतीत होता है मानो जगत की अनन्त भाव राशियाँ शरक्ताल के मेघ के तुल्य चिदाकाश में लीन हो रही हैं। व्युत्थान काल में भी पुनः-पुनः अंतर्मुख भाव आते हैं। निमीलन समाधि की क्रम धारा के द्वारा चित् की एकता का विमर्श करने पर व्युत्थान के समय में भी योगी समाधि रस में मग्न होकर रहता है जैसा कि क्रम सूत्र में कहा है—क्रम मुद्रा अन्तः स्वरूपा है। इसलिये उसके बल के द्वारा बहिर्मुख अवस्था में विषयों में संलग्न रहते हुए भी साधक को समाविष्टता होती है, अथवा पर दशा की प्राप्ति होती है। अतः शिवत्व का लाभ होता है।

आवेश के कारण पहले बाहर से अर्थात् बाह्य विषय शशि से भीतर में अथवा परमचित् भूमि में प्रवेश करता है। पश्चात् समावेश के बल के द्वारा भीतर से बाह्य स्वरूप में प्रवेश करता है। यह बाह्य और आध्यन्तर क्रम जो पुनः-पुनः मुद्रित होता

है, इसी को क्रम मुद्रा कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सृष्टि, स्थिति और संहारात्मक संवित् चक्र का ही क्रम रूप से ही विमर्शन होता है। तुरीया चित् शक्ति इस क्रम को मुद्रित प्रकाशित करती है। स्वाधिष्ठित रूप से आत्मसात् करती है। वास्तव में यह क्रम मुद्रा ही पूर्ण अहन्ता है।

चित् शक्ति की बाह्य रूप से अर्थात् विषयों में व्याप्ति प्रकट होती है। साक्षात्कार के पश्चात् समावेश के बल द्वारा जब शक्ति का प्रसरण होता है, तब साधक परम योगावस्था को प्राप्त करता है। उसके द्वारा विषयों का बाह्य स्वरूप ही विलुप्त हो जाता है। विषयों में केवल चित् रस की ही व्याप्ति प्रकट हो जाती है। इस प्रकार से जब समावेशयुक्त योगी बाह्य से भीतर में प्रवेश करता है और भीतर से चित् शक्ति के साक्षात्कार के उपरान्त समावेश के बल द्वारा इदंरूपी बाह्य रूप में अर्थात् विषयों में वमन के न्याय से प्रवेश करता है, उस स्थिति में विषयों में भी चित् रस की व्याप्ति प्रकट होती है। अतः भीतर बाहर दोनों ही समान हो जाते हैं। यही नित्योदित समाधि है।

**मुद्रा—**इसको मुद्रा इसलिये कहते हैं क्योंकि यह मुद् अर्थात् आह्लाद प्रदान करती है अर्थात् हर्ष के वितरण के कारण परमानन्द स्वरूप की स्थिति को प्रकट करती है। यह सब पाशों से मुक्त करती है। विश्व के मध्य में तुरीया सत्ता मुद्रण क्रम द्वारा सृष्टि आदि को आभासित करती है। उसके आभासन करने को ही क्रम कहते हैं।

**नोट—**आवेश अथवा समावेश दोनों का एक ही अर्थ है।

**इदानीम् अस्य समाधिलाभस्य फलमाह—**

तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा  
सर्वसर्गसंहारकारि निज संविद्वेवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति  
शिवम् ॥२०॥

नित्योदिते समाधौ लब्धे सति, 'प्रकाशानन्दसारा'—चिदाह्लादैकघना महती 'मन्त्रवीर्यात्मका' सर्वमन्त्रजीवितभूता 'पूर्णापराभद्रारिकारूपा या इयम् 'अहन्ता'—अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः, तत्र 'आवेशात्' 'सदा' कालाग्नयादेः

चरमकलापर्यन्तस्य विश्वस्य यौ 'सर्गसंहारौ' – विचित्रौ सृष्टिप्रलयौ 'तत्कारि' यत् 'निजं संविद्देवताचक्रं' 'तदैश्वर्यस्य' 'प्राप्तिः' – आसादनं 'भवति', प्राकरणिकस्य परमयोगिन इत्यर्थः; 'इति' एतत् सर्वं शिवस्वरूपमेव इति उपसंहारः – इति संगतिः ।

तत्र यावत् इदं किंचित् संवेद्यते, तस्य संवेदनमेव स्वरूपं; तस्यापि अन्तर्मुख-विमर्शमयाः प्रमातारः तत्त्वम्; तेषामपि विगलितदेहाद्युपाधि संकोचाभिमाना अशेषशरीरा सदाशिवेश्वरतैव सारम्; अस्या अपि प्रकाशैकसद्भावापादिताशेषविश्वचमत्कारमयः श्रीमान् महेश्वर एव परमार्थः; नहि पारमार्थिक प्रकाशावेशं बिना कस्यापि प्रकाशमानता घटते – स च परमेश्वरः स्वातन्त्र्यसारत्वात् आदि-क्षान्तामायीय शब्दराशिपरामर्शमयत्वेनैव एतत् स्वीकृतसमस्तवाच्य-वाचकमयाशेष जगदानन्दसद्भावापादनात् परं परिपूर्णत्वात् सर्वाकाङ्क्षाशून्यतया आनन्दप्रसरनिर्भरः; अतएव अनुज्ञाकुलस्वरूपात् अकारात् आरभ्य शक्तिसफारस्वरूपहकलापर्यन्तं यत् विश्वं प्रसृतं, क्षकारस्य प्रसरशमनस्वरूपत्वात्; तत् अकार-हकाराभ्यामेव संपुटीकारयुक्तया प्रत्याहारन्यायेन अन्तः स्वीकृतं सत् अविभागवेदनात्मकबिन्दुस्वरूपतया स्फुरितम् अनुज्ञर एव विश्राम्यति – इति शब्द-राशिस्वरूप एव अयम् अकृतको विमर्शः । यथोक्तं –

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तिः ।

उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वपेक्षानिरोधतः ॥

स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ।

( अजडप्रमातृसिद्धिः - २२-२३ )

इति । एषैव च अहन्ता सर्वमन्त्राणाम् उदयविश्रान्तिस्थानत्वात् एतद्वलेनैव च तत्तदर्थं क्रियाकारित्वात् महतीवीर्यभूमिः । तदुक्तम् – 'तदाक्रम्य बलमन्त्रा.. ।' इत्यादि "...त एते शिवधर्मिणः" ॥ । इत्यन्तम् श्रीस्पृन्दे ( २.५.१-२ ) । शिवसूत्रेषु अपि –

महाहृदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः । ( १ उ० २२ सू० ) इति ।

तदत्र महा मन्त्रवीर्यात्मिकायां पूर्णाहन्तायाम् 'आवेशो' –

देहप्राणादिनिमज्जनात् तत्पदावाप्त्यवष्टम्भेन देहादीनां नीलादीनामपि  
तद्रसाप्लावनेन तन्मयीकरणम्। तथा हि—देहसुखनीलादि यत् किंचित् प्रथते,  
अध्यवसीयते, स्मर्यते, संकल्प्यते वा, तत्र सर्वत्रैव भगवती चित्तिशक्तिमयी  
प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति; तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात् इति उक्तत्वात्।  
केवलं तथा स्फुरन्त्यपि सा तन्मायाशक्त्या  
अवभासित-देहनीलाद्युपराग-दत्ताभिमानवशात् भिन्नभिन्नस्वभावा इव भान्ती  
ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिरूपतया मायाप्रमातृभिः अभिमन्यते। वस्तुतस्तु एकैव  
असौ चित्तिशक्तिः ॥ यथोक्तम्

‘या चैषा प्रतिभा तत्पदार्थक्रमरूपिता ।

अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥’

( ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ज्ञानाधिकारः, आह्मिकः ७, श्लोक १ )

इति—तथा

‘मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा ।

कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥’

( तदेव, आह्मिक ५, श्लोक १८ )

इति। एवम् एषा सर्वदशासु एकैव चित्तिशक्तिः विजृमभ्माणा यदि  
तदनुप्रवेश-तदवष्टम्भयुक्त्या समासाद्यते, तत् तदावेशात् पूर्वोक्तयुक्त्या  
करणोन्मीलननिमीलनक्रमेण सर्वस्य सर्वमयत्वात् तत्त्संहारादौ अपि  
‘सदा सर्वसर्गसंहारकारि’ यत् ‘सहजसंवित्तिदेवताचक्रम्’—  
अमायीयान्तर्वहिष्करणमरीचिपुञ्जः, तत्र ‘ईश्वरता’—साप्राज्यं परभैरवात्मता,  
तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः। यथोक्तम्

‘यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।

नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरोभवेत् ॥’

( स्पन्दकारिका निष्पन्दः ३, श्लोकः १६ )

इति। अत्र एकत्र इति

‘एकत्रारोपयेत्सर्वम्...’

( स्पन्दकारिका निष्पन्दः ३, श्लोकः १२ )

इति । चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा व्याख्यातव्या । तस्य इति  
अनेन—‘पुर्यष्टकेन संरुद्ध.....’ (स्पन्दकारिका ३, १७)

इति उपक्रान्तं पुर्यष्टकम् एव परामृष्टव्यम्; न तु तथा विवरणकृतः  
‘एकत्र सूक्ष्मे स्थूले शरीरे वा’ इति व्याकृतवन्तः । स्तुतं च मया

‘स्वतन्त्रशिच्चित्तचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः ।  
संवित्तिदेवता चक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ ॥’

इति । इतिशब्द उपसंहारे, यत् एतावत् उक्तप्रकरणशारीरं तत् सर्वं  
‘शिवम्—शिवप्राप्ति हेतुत्वात्’ शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वात्  
च, शिवमयमेव इति शिवम् ॥

देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकलं संरुद्धमानो जनः  
पूर्णानन्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चितिम् ।  
मध्येबोधसुधाव्य-विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं  
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः ॥  
येषां वृत्तः शांकरः शक्तिपातो  
येऽनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः ।  
शक्ता ज्ञातुं नेश्वर प्रत्यभिज्ञा—  
मुक्तस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः ॥

## समाप्तमिदं प्रत्यभिज्ञाहृदयम्..

कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः

श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य ॥

शुभमस्तु ॥

शब्दार्थ—

अब इस समाधि लाभ का फल कहा है :-

## सूत्र २० -

प्रकाश आनन्द सार वाली जो महामन्त्र वीर्य स्वरूपा परिपूर्ण अहन्ता है, उसके अवेश से (योगी को) समस्त सृष्टि-संहार करने वाली अपनी संविद्-देवियों के चक्र पर प्रभुत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार से यह सब शिव है।

नित्योदित समाधि के लाभ से प्रकाशानन्द सार, सब मन्त्रों का प्राण बनी हुई, पूर्ण पराभट्टारिका रूपा जो यह अकृत्रिम अहन्ता है, उसमें आवेश से कालान्ति से लेकर अन्तिम कला पर्यन्त जो सृष्टि और संहार अर्थात् विचित्र सृष्टि, प्रलय आदि हैं, उन्हें करने वाला जो अपना संविद् देवता चक्र है, योगी उसका स्वामित्व पाकर स्थित हो जाता है ॥ इति शिवम् ॥

यह सब कुछ जो कहा गया है वह शिव स्वरूप ही है यह उपसंहार अर्थात् समाप्ति का द्योतक है।

अब यहाँ पर टीकाकार इस बात को विस्तार से समझाते हैं—कि जो कुछ समझा जा रहा है। वह सब संवेदन अर्थात् संवित्ति स्वरूप ही है। उसका भी तत्त्व अर्थात् सार अन्तर्मुख विमर्शमय प्रमाता ही हैं। प्रमाताओं का भी सार देहादि रूप की उपाधि से रहित समस्त शरीर रूपिणी सदा-शिवेश्वरता है। उसका भी परम तत्त्व सम्पूर्ण विश्व चमत्कार को अपनी अद्वैत प्रकाशमयता से प्रकट करने वाला श्रीमान् महेश्वर ही है। क्योंकि परम तत्त्व रूपी प्रकाश के आवेश के बिना किसी का प्रकाशित होना ही नहीं बनता है। वह प्रकाशमय परमेश्वर स्वातन्त्र्य की प्रधानता के कारण 'अ' से लेकर 'क्ष' तक जो अमायीय शब्द समूह है, उसको परामर्श द्वारा स्वीकार करता है। इसके स्वीकार करने से वह अखिल वाच्य-वाचकमय सम्पूर्ण जगत् को अपने में धारण करने के कारण से परिपूर्ण रूप है। सब आकांक्षाओं से रहित होने के कारण आनन्द के उछाल से पूर्ण है। इसलिये अनुत्तर जो अकुल स्वरूप अकार है वहाँ से लेकर शक्ति के विस्तार रूप 'ह' कला तक जो विश्व फैला है वही 'क्ष' वर्ण के प्रसार के पर्यवसान स्वरूप होने के कारण वह विस्तृत विश्व 'अ' और 'ह' से सम्पुटित होकर, प्रत्याहार-न्याय से उस अनुत्तर के ही भीतर रहता हुआ, अविभक्तता का ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, इस प्रकार के बिन्दु रूप से स्फुरित होता हुआ अनुत्तर में ही विश्रान्त रहता है। जैसा कि

कहा है, कि प्रकाश का जो अपने में विश्रान्त रहना है, अर्थात् अपने परम स्वरूप का ही विमर्श करना है, वही अहंभाव है और वही अहं सब अपेक्षाओं के उच्छेद से विश्रान्ति कहलाता है। यही स्वातन्त्र्य मुख्य कर्तृत्व एवं ईश्वर रूपता कहलाता है।

यह अहंता ही सब मन्त्रों का उदय एवं विश्रान्ति स्थान होने के कारण तथा इसी के कारण समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होने के कारण महती वीर्य भूमि कहलाती है। जैसा कि स्पन्दनिर्णय में कहा है—तदा क्रम्य बलं मन्त्रा इत्यादि—अर्थात् इसी अहन्ता के बल को लेकर मन्त्र बलशाली बन जाते हैं, ‘ये सब शिवस्वरूप ही है’ यहाँ तक शिवसूत्र के अनुसार पूर्णाहन्ता रूप महासरोवर में अनुसन्धानात्मक निमज्जन करने से समस्त मन्त्रों के मुख्य वीर्य का अनुभव होता है। महामन्त्र वीर्य में अर्थात् पूर्णाहन्ता में प्रवेश से, देह प्राणादि को ढुबाकर और गौण करके पूर्णाहन्ता के दृढ़तापूर्वक आलिंगन से देहादि को एवं नीलादि विषयों को पूर्णाहन्ता रसमय पाक से पूर्णाहन्ता मय कर लेना, पूर्णाहन्तामय ही सब कुछ अनुभव करना। इसी बात को ‘तथाहि’ द्वारा दिखलाते हैं—कि देह सुख नीलादि विषय जो कुछ भी ज्ञात हो रहा है, निश्चित हो रहा है, स्मृत हो रहा है, या संकल्प में आ रहा है, उन सब जगहों में भगवती चित्तशक्ति ही प्रकाश भित्तिरूपेण प्रकाशित हो रही है। यदि चित्तशक्ति का प्रकाश न होता तो कोई वस्तु भी प्रकाशित नहीं हो सकती—यह पूर्व वर्णित है। केवल एक बात है कि प्रधान रूप से चित्तशक्ति के प्रकाशित होने पर भी उसी की माया शक्ति के द्वारा प्रकाशित जो देह, नील, स्थान पीतादि हैं, उनकी छाया पड़ने के कारण होने वाले अभिमान के प्रभाव से वही चित्तशक्ति भिन्न स्वभाव वाली जैसी भासित होकर ज्ञान, संकल्प, निश्चय, विकल्प आदि रूप से माया प्रमाताओं के द्वारा अभिमत होती रहती है। यथार्थ तो सब जगह वह केवल अकेली चित्तशक्ति मात्र ही है। जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रंथ में कहा है—तत् तत् पदार्थ क्रम से रंगी हुई जो प्रतिभा है, वह अक्रम, (क्रम रहित) अनन्त, चिदरूप प्रमाता ही महेश्वर है। और उसी पूर्वस्वतन्त्र प्रभु की माया शक्ति के प्रभाव से जब वही चित्तशक्ति अपने से भिन्न प्रमेय को अपना विषय बना लेती है तो ज्ञान, संकल्प, निश्चय आदि नाम उसी के पड़ जाते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है, यदि यह प्रत्यक्ष विषयीभूत चित् शक्ति ही जो सब दशाओं में प्रसृत होती रहती हैं,

उसी के भीतर प्रवेश करने की युक्ति से या उसी को पकड़ कर रखने की युक्ति से प्राप्त की जाए तो तब उसी के प्रभाव से पूर्वोक्त रीति से इन्द्रियों के उन्मीलन और निमीलन के क्रम से और सब पदार्थों के सर्वमय विश्वमय होने के कारण उस पदार्थ के संहार आदि में भी सदा सर्व सर्ग संहारकारी जो सहज संविति देवता चक्र है अर्थात् जो सदा सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाले अमायीय अन्तःकरण बहिष्करण का किरण पुँज है, उसमें स्वामित्व अर्थात् परम धैरवात्मकता की प्राप्ति योगी को हो जाती है।

स्पन्दकारिका में भी कहा है—जब सारी इन्द्रियाँ एक स्थान पर ही अर्थात् चित् शक्ति में ही स्थित हो जाए अथवा यह मालूम हो जाए, तब उन शक्तियों के उद्भव और लय को अपनी इच्छा से करता हुआ योगी वास्तविक भोक्तता को पा लेता है और शक्तिचक्र का स्वामी बन जाता है । इति ॥

इस श्लोक में जो एकत्र शब्द है, उसका अर्थ चित् सामान्य की स्पन्द भूमि समझना चाहिए। इसी को उन्मेष भी कहा गया है; क्योंकि स्पन्दशास्त्र में ही कहा गया है कि “समस्त विश्व को एक ही तत्त्व पर आरोपित करे।” श्लोक में जो तत्य शब्द है, उससे पूर्वोक्त श्लोक में ‘पुर्यष्टकेन संरुद्धः’ इसमें कहा गया पुर्यष्टक ही लेना चाहिए। पुर्यष्टक सूक्ष्म शरीर को कहते हैं। न कि जैसी विवरणकार ने ‘एकत्र’ की व्याख्या की है—कि ‘सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर’ सो नहीं ग्रहण करना चाहिए। मैंने भी स्तुति में कहा है कि चिति के अर्थात् संवित् समूहों का चक्रवर्ती राजा-संविति देवियों के समूह से सेवित वह कोई विलक्षण अनिर्वचनीयसर्वोत्कर्षेण जयशील है इति ।

अंतिम सूत्र के अंत में ‘इति’ शब्द का अर्थ है कि प्रारम्भ किया हुआ शास्त्र समाप्त हो गया है और शिवम् शब्द का अर्थ है कि जो कुछ इस प्रकरण में कहा गया है, वह सब कुछ शिव ही है क्योंकि उससे शिवत्व की प्राप्ति हो सकती है और शिव से ही प्रसृत हुआ है, तथा शिव स्वरूप से अभिन्न होने के कारण शिवमय ही है इसलिये शिव ही हैं इति ।

सांसारिक जन प्रतिक्षण देह प्राणादि तथा सुख आदि से घिरे रहने के कारण अथवा निरुद्ध हुए होने के कारण इस महेश्वर सम्बन्धी पूर्णानन्दघन अपनी चिति

को नहीं समझते हैं। इसलिये उसे ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु जो योगी गुरु के उपदेश से बोध-सुधा-समुद्र के मध्य में इस चित्ति को देखते हैं और उसके चारों ओर फेन पिण्ड के समान विश्व को देखते हैं वह साक्षात् शिव ही हैं; ऐसा इस शास्त्र का व्याख्यान है। जिनको भगवान् शंकर का शक्तिपात् हो चुका है, किन्तु अभ्यास न करने से जो सूक्ष्म युक्तियों को जानने में असमर्थ है, अतः ईश्वर प्रत्यभिज्ञा को नहीं समझ सकते, उन्हीं के लिये इस प्रत्यभिज्ञा हृदय के द्वारा तत्त्वका उपदेश-स्वात्म महेश्वरता का उपदेश-किया गया है। | इति ॥

अब इस समाधिलाभ का फल कहा है-

#### टिप्पणी-

तब चिदानन्दैकधन महामन्त्रवीर्यस्वरूप पूर्णाहन्ता को ग्रहण करके निज आवेश-प्रकाश और विमर्श जिसका सार है-उसको प्राप्त करता है। तत्पश्चात् सृष्टि और संहार क्रम के द्वारा अपनी शक्तियों के चक्रों के ऊपर शासन करता है। यह सब शिव का ही स्वभाव है। नित्योदित समाधि के प्राप्त होने पर-विमर्श ही जिसका स्वरूप है-चिदानन्द के धनीभूत होने पर-सर्व मन्त्रों की जीवन बनी हुई अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा तथा भैरवी रूपा पूर्णपराभट्टारिकारूपा अहन्ता अर्थात् वास्तविक-यथार्थ-आत्मचमत्कार में प्रविष्ट होने पर सदैव कालाग्नि रुद्र से लेकर शान्तातीता कला पर्यन्त खेचरी, गोचरी, दिकचरी और भूचरी-इन चार शक्ति चक्रों में परिस्फुटित होकर सृष्टि और संहार क्रम को मुद्रित करती है उन शक्ति चक्रों के ऊपर परम योगी जन शासन करते हैं।

जो प्रकरण चल रहा है- उसमें यही बात कही गई है और उसका सारांश यही है कि यह अखिल जगत् सब शिवमय ही है जो कुछ भी प्रमाण और प्रमेय वर्ग हैं वह सब कुछ अन्तर्मुख विमर्शमय प्रमाता का ही स्वरूप है। इन प्रमाताओं में सदाशिव-ईश्वरता ही सार तत्त्व है, जिनमें सीमित देहादि लय हो गए हैं। सदाशिव ईश्वरता में सर्वोत्कृष्ट सत्यता यह है कि वह ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् स्वयं ही हैं, जो कि चमत्कार अर्थात् विमर्श से युक्त होने पर सम्पूर्ण जगत्-रूप एक परमशिव ही कहे जाते हैं। प्रकाश के बिना कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकता है। वे स्वतंत्र रूप परमेश्वर ही 'अ' से लेकर 'ह' अक्षर पर्यन्त विश्वरूप में फैला हुआ है। 'अ'

वर्ण प्रकाश का स्वरूप है और 'ह' वर्ण विमर्श का स्वरूप है। शिव ही 'अ' है और शक्ति का प्रसार ही 'ह' है अनुत्तर रूप परम शिवात्मक अकार से शक्ति का स्फुरण आरम्भ होता है और हकार पर्यन्त सृष्टि प्रसृत होती है। अकार और हकार संपुटाकार युक्त हैं। जिस विमर्श-शक्ति में निखिल प्रपञ्चविलीन रहता है, उसके संसर्ग से अनुत्तर अक्षर स्वरूप प्रकाश बिन्दु रूप धारण करता है।

जैसा कि कहा गया है—इदम् भाव का अहम् भाव में लीन होना आत्मविश्रान्ति कहलाता है। यह आत्म विश्रान्ति ही सर्व अपेक्षाओं का शमन करती है। पूर्ण अहम् स्वातन्त्र्य रूप, कर्तृत्व भाव से परिपूर्ण, उत्कृष्ट ईश्वर भाव से सम्पन्न कहा गया है। वह आत्मविश्रान्ति ही पूर्ण अहन्ता है, और सब मन्त्रों का उदय स्थल और विश्रान्ति स्थल है। इसके बल द्वारा ही सब अपना कार्य सिद्ध करते हैं। यह सब की उत्पत्ति का स्थान है ॥

जितने मन्त्र हैं इसके बल द्वारा ही अपनी-अपनी शक्ति दर्शाते हैं। यही बात स्पन्दशास्त्र में कही है—सब मन्त्र शिव रूप ही हैं। महान् संवित् रूपी सरोवर में गोता-डुबकी-लगाने से ही मन्त्रशक्ति का अनुभव हो सकता है।

शिवसूत्र में भी कहा है—महाहाद के अनुसंधान से मन्त्र वीर्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार महान् मन्त्र वीर्यादि रूप पूर्णाहन्ता में प्रवेश और कुछ नहीं, केवल देह प्राणादि से अभिमान को हटाना है। अतः संवित्-स्वरूप की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण प्रमाता तथा प्रमेय वर्गों में संवित् रूपी रस व्याप्त हो जाता है। देह, सुख, नील आदि जितने भी वस्तु वर्ग भासते हैं। ज्ञान शक्ति के द्वारा, तथा बुद्धि के द्वारा निश्चय करना चाहिए कि इन सबमें चित् शक्ति ही अनुस्यूत है, यह सब उसी की लीला मात्र है, सब वस्तु वर्गों के स्फुरित होने की वही आधार है, उसके स्फुरण के बिना कुछ भी स्फुरित नहीं हो सकता, उनमीलन और निमीलन के क्रम द्वारा अर्थात् क्रममुद्रा द्वारा ३६ तत्त्व उसी का रूप भासते हैं।

सब पदार्थों का संहार होने पर करणेश्वरी देवियों द्वारा जो सदा सृष्टि और संहार क्रम चल रहा है। वह अन्तःकरण, बहिष्करण आदि सब इस चित् शक्ति का ही प्रसार है। क्रम मुद्रा में निरत योगी को अहम् स्वरूप की प्राप्ति होती है ॥। जैसे कि कहा है—जब कोई एक ही तत्त्व पर आरूढ़ हो जावे, अर्थात् एक ही

संवित्तत्व पर किसी का चित्त आरूढ़ हो जावे, अतः इस देहादि में ही जिसे उद्भव और लय पर पूरा नियन्त्रण हो जाए, तब वह एक स्वतंत्र भोक्ता बन जाता है और करणेश्वरी देवियों का स्वामी बन जाता है : यहाँ “एकत्र” शब्द का अभिप्राय है—सब कुछ एक ही स्थान-चित् शक्ति-पर एकत्रित करना चाहिए ।। उन्मेष स्वरूप हो जाने पर सामान्य चित् पर सब चढ़ना चाहिए अर्थात् किसी एक स्थान विशेष पर निरोध समझना चाहिए ।

उपरोक्त श्लोक में ‘तस्य’ शब्द का अभिप्राय “पुर्यष्टक”—सूक्ष्म शरीर है । वह जो कि एक स्वतंत्र शासक बन गया है और चिति चक्रों पर जो शासन करता है, अर्थात् जो इन्द्रियों के वशीभूत नहीं है वह चक्रवर्ती महेश्वर स्वरूप ही है । अपनी शक्तियों द्वारा वह सेवित है । ऐसा कोई विरला ही है जिसकी जय हो ! “इति” शब्द का अर्थ है—उपसंहार । अभी तक जो कुछ इस ग्रंथ में कहा है, अर्थात् इस ग्रंथ का जो शरीर है वह शिव ही है, क्योंकि वह शिव प्राप्ति का हेतु है । वह शिव रूप ही है, क्योंकि वह शिव से ही प्रसृत हुआ है । वह शिव—से अभिन्न है, अतः वह शिवमय ही है ।।

संसारी जीव, अर्थात् माया प्रमाता, देह, प्राण सुख, दुख आदि द्वारा बंधन में बध्ये हुए हैं । अपनी संवित् को जो कि पूर्ण और आनन्दधन स्वरूप है, उसको जीव पहचानता नहीं ज्ञानरूपी समुद्र में जो प्रतिष्ठित हैं, गुरुओं के उपदेशों द्वारा जो इस बात को जानते हैं कि समस्त विश्व संवित् समुद्र के भीतर उसके फेन पिंड के सहित संवित् स्वरूप ही है । वे साक्षात् शिव स्वरूप ही हैं । यह उपदेश उनके हितार्थ कहा गया है, जिन्हें शिव का शक्तिपात हुआ है, परन्तु जो तीक्ष्ण तर्क शास्त्र की युक्ति के योग्य नहीं, तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाशास्त्र को भी समझने में असमर्थ हैं ।।

यह प्रत्यभिज्ञाहृदय समाप्त हुआ ॥

यह कृति महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् अभिनवगुप्त के चरण कमल सेवक, शिष्य श्रीमान् राजानक क्षेमराज आचार्य की है ।

शुभ हो !!

## पारिभाषिक पदानुक्रमणी

**अ—“अ”** वर्ण द्वारा अनुत्तर को ही लक्ष्य किया गया है, यह शिव का सूचक है।

**अकुल—**जो विश्वपिता शिव है वही अकुल है।

**अख्याति—**अपना अज्ञान।

**अछोवक्र—**अथवा मेद्रकण्ड जो कि मलाशय के मूल के पास होता है, यह मूलाधार से भी नीचे है।

**अणु—**जब यह आत्मा कार्ममल, आणवमल, और मायीय मल के द्वारा ढक जाता है और अपना शिवस्वरूप अर्थात् सार्वभौमिक चेतनता को भूलकर जीवात्मा के रूप में अपने आप को अनुभव करता है तब उसे अणु कहते हैं।

**अधःकुण्डलिनी—**कुण्डलिनी जब लम्बिका से नीचे की ओर मूलाधार की ओर जाती है अथवा प्राणों की गति लम्बिका से मूलाधार की ओर जाती है। इसे ही अधःकुण्डलिनी कहा गया है।

**अनाख्य—**वह शब्द जो बोले ना जा सके अर्थात् स्वरों के बिना शब्द किसी मन्त्र को उस स्थान से पकड़ना जहाँ से उच्चारण न किया जा सके।

**अनन्त भट्टारक—**शुद्ध विद्या तत्त्व में अनन्त भट्टारक नाम के देवता अधिष्ठितृत हैं और यह मन्त्र वर्ग प्रमाताओं के अधिष्ठाता हैं।

**अनाश्रित शिव—**अर्थात् शून्यातिशून्य इस दशा में इस ज्ञान का अभाव हो जाता है कि मैं ही शिव हूँ। यह दशा शक्ति से नीचे और सदाशिव दशा से ऊपर है। इस दशा को प्राप्त होने के उपरान्त ही परम शिव भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों में प्रकट होता है। शक्तिहीन शिव ही अनाश्रित शिव के नाम से प्रसिद्ध है, अतः यह विश्वोत्तीर्ण दशा है।

**अनुग्रह**—यह परम शिव का पाँचवा कृत्य है भगवान् अपनी स्वतंत्र शक्ति द्वारा जब जीव पर कृपा करते हैं, तो वह इसके द्वारा ही परम लक्ष्य पर पहुंचने का अधिकारी होता है, शक्ति-पात भी इसे ही कहते हैं।

**अनुत्तर**—यह वह परम तत्व है जिससे परे कुछ भी नहीं।

**अन्तकोटि**—द्वादशान्त-नाक के पोरो से निकल कर प्राण बारह अंगुल बाहर जा कर फिर लौटते हैं। उसी लौटने के स्थान को ही अन्तकोटि कहते हैं।

**आनन्दशक्ति**—आनन्द शक्ति ही स्वातन्त्र्यरूपाशक्ति है, यही हादिनी शक्ति है।

**आणवमल**—अणु भाव से सम्बन्धित मल जो कि जीव की सार्वभौमिक चेतनता को सीमित करता है और जो कि अल्पज्ञता को उत्पन्न करता है।

**अभासन**—सृष्टि।

**अमाया**—माया से रहित।

**अमाकला**—घोडशकल पुरुष में अमृतकला एक है। यही वास्तविक अमाकला है, बाकी 15 कलाएँ काल स्पृष्ट हैं, यह घोडशी कला काल राज्य से बाहर है।

**अहम् ज्ञान**—अहम् ज्ञान ही शिव का स्वरूप ज्ञान है।

**अशुद्ध अध्वा**—माया प्राकृत जगत अशुद्ध अध्वा का उपादान है। माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जितने तत्त्व हैं वह अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं।

**अर्हत्-जैन**।

**अलंग्रास युक्ति**—यदि संहार के समय जीव भीतर से कुछ विचित्र शंकाओं से प्रभावित होता है, तो मल के आवरण वश पुनः उत्पन्न होने वाले संसार रूपी बीज से युक्त निग्रह अथवा पिधान दशा को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जब उस उत्पन्न हुई वस्तु को अलंग्रास की युक्ति से चित्त अग्नि से दग्ध किया जावे, तो अनुग्रह से युक्त योगी को आवण के हट जाने पर पूर्णता का लाभ होता है।

**अहंता**—प्रकाश की आत्म स्वरूप में जो विश्रान्ति है, उसी का नाम अहंता है।

आत्मशक्ति का दर्शन, एवं आत्म स्वरूप की उपलब्धि और आस्वादन एक ही वस्तु है। यही पूर्णाहन्ता चमत्कार अथवा सच्चिदानन्द की घनीभूत अभिव्यक्ति है।

**अहम् भाव**—अहम् ज्ञान ही शिव का स्वरूप ज्ञान है। वही अहम् भाव है।

**अवरोह पद**—मायाप्रमातृ अवस्था।

**आदिकोटि**—हृदय को कहते हैं।

**ईश्वरतत्त्व**—इस भूमिका में अहन्ता और इदन्ता का समानाधिकरण्य ही प्रकट होता है। यहाँ के प्रमातृवर्ग को मन्त्रेश्वर कहते हैं। जिनके अधिष्ठाता हैं ईश्वर भट्टारक।

**ईश्वर भट्टारक**—ईश्वर तत्त्व में ईश्वर भट्टारक नाम के स्वामी का ही साम्राज्य है।

**उन्मीलन**—पूर्व से ही विद्यमान वस्तु को पुनः प्रकट करना।

**उन्मीलन समाधि**—नेत्र पट खुले रहने पर भी समाधिस्त रहता है। निमीलन समाधि के उपरान्त ही उन्मीलन समाधि की दशा प्राप्त होती है, व्युत्थान के समय भी समाधि रस में मग्न रहता है। बहिर्मुख अवस्था में भी विषयों में व्याप्ति रहते समय भी पराशक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है।

**उन्मेष**—एक चिन्ता के बाद, जहाँ से दूसरी चिन्ता उदय होती है, उसे ही उन्मेष कहते हैं। आंखों का खोलना, अन्तर्मुख भाव के उपरान्त जब बाह्य जगत में प्रवेश करता है उसे ही उन्मेष कहते हैं। बहिर्मुख अवस्था में भी विषयों में व्याप्ति रहते समय भी पराशक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है। उन्मेष दशा को अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है।

**ऊर्ध्व कुण्डलिनी**—कुण्डलिनी की ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर गति, कुण्डलिनी का उत्थान, जब प्राण और अपाण सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। अर्थात् कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर सुषम्ना में प्रवेश करती हुई ऊर्ध्व गति करती है, इसे ही ऊर्ध्वकुण्डलिनी के नाम से कहा जाता है।

**कञ्चुक**—शक्ति को परिच्छिन्न बनाने वाले आवरण ही पाँच कञ्चुक हैं, जिनके नाम कला, विद्या, राग, काल और नियति हैं।

**काल**—समय, नित्यत्व को संकुचित करने वाला तत्त्व “काल” कहलाता है, जिसके कारण देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है।

**कला**—जीव के सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करने वाला तत्त्व कला है जिसके कारण जीव किञ्चित्-कर्तृत्व शक्तियुक्त बनता है।

**कार्ममल**—पुण्य पाप की वासना से जिस मल का उद्भव होता है वह कार्ममल कहलाता है।

**अकुला**—कुला का अर्थ शक्ति है, इसे ही महाशक्ति अर्थात् पराशक्ति कहते हैं।

**कालाग्नि**—कालाग्नि नामक एक रुद्र है।

**क्रममुद्रा**—समाधि के उपरान्त एक दशा आती है जिसे नित्योदित समाधि कहते हैं। व्युथान काल में भी समाधि रस से भरपूर रहता है, सर्वदा ही आनन्द के नशे से भरा रहता है। बहिर्मुख अवस्था में भी विषयों में व्याप्ति रहते समय भी पराशक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है। इसमें प्रारम्भ में पहले बाहर से अन्तः प्रवेश होता है फिर आवेश के द्वारा भीतर से बाह्य स्वरूप में प्रवेश होता है। इस प्रकार पुनः पुनः बाह्याभ्यन्तर क्रम चलता रहता है। बाह्य और अभ्यान्तर दोनों में समविष्टता बनी रहती है। इसे ही क्रममुद्रा कहते हैं। यही पूर्ण अहन्ता का स्वरूप है।

**खेचरी चक्र**—शिव, पशु भूमि में अल्प सामर्थ वाले खेचरी चक्र के द्वारा आक्रान्त होकर भेद दशा को प्राप्त होता है।

**गोचरी चक्र**—गोचरी शक्ति का स्वभाव है—अन्तःकरण। इसके द्वारा आत्मा का अभेद-अविकल्पमय पारमार्थिक स्वरूप, अन्तर्धान हो जाता है।

**ग्राहक**—जाननेवाला (subject) प्रमाता।

**गाह्य**—object—प्रमेय—जिस वस्तु को जाना जाता है।

**चित्**—यह व्यक्तिगत चैतनया का नाम है। चित् ही जब अन्तर्मुख होकर चेतन पद पर आरूढ़ हो जाता है, तो वह चिति कहलाता है, चित् ही अन्तःकरण है।

**चिति**—चेतन शक्ति—अर्थात् चिति शक्ति प्रकाश रूपा है। यह वह शक्ति है, जिसे चिदानन्द रूपा तथा परा शक्ति भी कहते हैं।

**चेतन**—चेतन उस चैतन्य पुरुष का द्योतक है, जिसे शिव भी कहा जाता है।

**चिन्ता**—विचार।

**चितिचक्र**—संवित् चक्र।

**चमत्कार**—विमर्श का ही दूसरा नाम चमत्कार है।

**निमीलन समाधि**—नेत्र पट बन्द करने पर जो अन्तर्मुख समाधि की दशा प्राप्त होती है। इस समाधि दशा के उपरान्त ही पूर्ण अहन्ता की दशा प्राप्त होती है। अर्थात् नेत्रपट बन्द किये हुए यह अन्तर्मुख समाधि की दशा है। इसमें साधक व्यक्तिगत भाव से ऊपर उठ कर पूर्ण अहन्ता के स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

**निभालन**—आदि कोटि-हृदय, और अन्तकोटि-द्वदशान्त तक, जब प्राण बाहर जाते, तथा वहाँ से लौटते हैं, उन दोनों संधि स्थानों पर, प्राण के उठने, और शान्त होने पर निभालन करना, अर्थात् मनोयोग पूर्वक उसको अवधान दृष्टि से देखते रहना आद्यान्त कोटि निभालन है।

**निमेष**—आँखों को बन्द करना जब शक्ति संकुचित होती है, अर्थात् संसार विलीन हो जाता है।

**नियति**—जीव की स्वातन्त्र्य शक्ति का तिरस्कार करने वाला तत्त्व नियति कहलाता है, जिसके कारण जीव नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है।

**तुरीय**—चार प्रकार की अवस्थाएँ हैं, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय जिस अवस्था में दस इन्द्रियों द्वारा जागतिक व्यापार सम्पन्न होता है, उसे जाग्रत अवस्था कहते हैं। जिस अवस्था में व्यवहार की निष्पत्ति होती है, उसे स्वप्न अवस्था कहते हैं। स्वप्न में विद्यमान, अन्तःकरण-वृत्ति का लय होने पर

सब इन्द्रियों का उपरम जिस अवस्था में उदित होता है उसका नाम सुषुप्ति है। इन तीनों से विलक्षण एक अवस्था है उसे तुरीय कहते हैं। यही अहन्ता का स्वरूप है। सारे जगत की एक मात्र विश्रान्ति ही तुरीय अवस्था है। यह सब अवस्थाओं के मध्यव्यापी दशा है। इसमें “उदान” वायु सुषुम्ना मार्ग में उल्लसित होकर ऊर्ध्व दिशा की ओर अग्रसर होने लगती है।

**तुरीयातीत दशा**—यह दशा तुरीय अवस्था से भी ऊपर है, तुरीयातीत दशा में सारा विश्व अपना ही स्वरूप भासता है। यही पूर्ण अहन्ता का स्वरूप है।

**देश**—space, अन्तराल।

**दिकचरी चक्र**—दिकचरी शक्ति का स्वभाव है—बहिष्करण। इसके द्वारा जो शिव का अभेद ज्ञान है, वह आवृत हो जाता है तथा भेद विचार तथा भेद प्रथा प्रकट हो जाती है।

**पञ्चकृत्य**—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह यह पाँच कृत्य हैं।

**प्राण**—प्राण पाँच प्रकार के होते हैं, प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान। नासा पुटों से जो वायु बाहर की ओर जाती है उसे प्राण वायु कहते हैं। जो वायु नासा पुटों से अन्दर की ओर जाती है उसे अपान वायु कहते हैं। जीवन के लिये आवश्यक अत्यन्त महत्वपूर्ण समान वायु शरीर के मध्य में पाई जाती है। भोजन की पाचन क्रिया को यही सम्पन्न करती है। उदान वायु ऊपर की ओर जाती है। व्यान वायु शरीर के समस्त भागों में व्यापक होती है। वास्तव में यह समस्त प्राणशक्ति रूप में ही जाने जाते हैं। यही परमार्थ पथ में सहायक होते हैं। परम पद की प्राप्ति के हेतु हैं।

**पति**—पति से अभिप्राय परम शिव से है यह सर्वज्ञत्व, स्वातन्त्र्य आदि गुणों से सम्पन्न होता है। शिव नित्य मुक्त है और स्वभाव-सिद्ध है, तथा नित्य निर्मल है, इसे ही परम तत्व, परम पद, पर संवित की संज्ञा से पुकारा जाता है।

**परमशिव**—सृष्टि के आदि से अनादिकाल से जो अव्यक्त, पूर्ण, निराकार, और शून्य स्वरूप, तत्त्वातीत प्रपञ्चातीत तथा व्यवहार पथ से भी अतीत वाणी और मन के अगोचर हैं वही परम शिव है। (परम शिव में अपृथक सिद्ध

होकर रहने वाला विशेषण है, न तो शिव शक्ति से भिन्न है और ना शक्ति शिव से पृथक है, दोनों की नितान्त एकता बनी रहती है।) परमशिव आनन्दमय धनीभूत प्रकाशरूप है।

**परप्रमाता**—परप्रमाता ही परमशिव है।

**परावाक्**—शास्त्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी-चार प्रकार की वाणियों का उल्लेख मिलता है, वैखरी बोल चाल में आने वाली वाणी है, इसका उच्चारण कण्ठ से होता है। वैखरी के सब वर्णों को विगलित कर, मध्यमा में नादाभास से परिणत करना एवं तदन्तर पश्यन्ती से विशुद्ध नादमय ज्योति में प्रकाशित करना। पश्यन्ती से परा में जाकर शब्द अर्थात् नाद ब्रह्मरन्ध्र से कुछ ऊपर जाकर लीन हो जाता है। परावाक् शक्ति पूर्णाहन्तामयी परमैश्वर्य रूपा है।

**पराशक्ति**—यह नित्या, परमानन्द स्वरूपिणी तथा चराचर जगत की बीज रूपा है, यही परासंवित् शक्ति चिति है।

**पशु**—अणु परिच्छिन्न तथा सीमित शक्ति से समन्वित जीव पशु कहलाता है।

**पाश**—पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा शिव स्वरूप होने पर भी जीव पशुत्व को प्राप्त होता है। इसे ही शिव का निग्रह या पिधान कहते हैं।

**पश्यन्ती**—पश्यन्ती वाणी मध्यमा से भी सूक्ष्मतर है, यह अचला और निस्पन्द है यह स्वप्रकाश तथा संविद्रूपा है।

**पुर्यष्टक**—पञ्चतन्मात्राओं एवं मन अहंकार तथा बुद्धि के समूह से बना सूक्ष्म शरीर, यह प्रति पुरुष में नियत सूक्ष्म देह को कहते हैं।

**प्रकाश**—यह प्रकाशत्मक शिव के स्वरूप ज्ञान का उद्योधक है।

**प्रकृति**—शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति है।

**प्रलयाकल**—प्रलयाकल दशा में शरीर पात होने से माययीमल तो नहीं रहता, परन्तु आणव तथा कार्ममल की सत्ता बनी रहती है। अर्थात् यह जीव के स्थूल व सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कराने के हेतु बनी रहते हैं। यह माया तत्व में

स्थित शून्य के प्रमाता है।

**बन्ध-**शिव तत्त्व का अज्ञान।

**बैन्दवीकला-**अमा कला अथवा स्वातंत्र्य शक्ति।

**ब्रह्मनाड़ी-**मध्यनाड़ी, सुषुमा नाड़ी अथवा ब्रह्मनाड़ी एक ही बात है।

**भैरवमुद्रा-**अर्थात् अविकल्प भूमि।

**भूचरी चक्र-**भूचरी शक्ति का स्वभाव है—भाववर्ग या प्रमेय सत्ता। यह अपनी पारमार्थिक सर्वात्मा को आच्छादित करती है और प्रमेय वर्ग को प्रकाशित करती है।

**भट्टारक-**आदर सूचक शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

**भूमिका-**अभिनय करने वाले पात्र।

**भुवन-**जगत्।

**मध्यमा वाणी-**यह वाणी वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होती है और उसका व्यापार भीतरी होता है। वह सूक्ष्म प्राण शक्ति के द्वारा परिचालित होती है। चिन्तन का कार्य यह मध्यमा वाणी करती है। इस वाणी विशेष में शब्द की मानसिक क्रिया होती है, अर्थात् वक्ता बोलना चाहता है और बोलने के लिये वह शब्द ढूँढ़कर प्रकट करना चाहता है, यही “मध्यमा” वाक् का क्षेत्र है।

**मध्यधाम-**ब्रह्म नाड़ी—अथवा मध्यधाम एक ही नाम हैं। यह प्राण-अपान का उत्पत्ति-स्थान है।

**मन्त्र-**कुछ शुद्ध वर्णों के संग्रह से मन्त्र बनते हैं। मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। मन्त्र जप का भली-भाँति विधिपूर्वक अनुष्ठान होने पर इससे परमात्मा का प्रकाश और इष्ट देव का साक्षात्कार होता है। जिन्होंने शुद्ध विद्या का अनुभव किया उन्होंने ही वास्तव में मन्त्रों के स्वरूप को जाना है। महान् संवित् रूपी सरोवर में गोता-दुबकी लगाने से ही मन्त्र-शक्ति का अनुभव हो सकता है।

**मन्त्रेश्वर**—ईश्वर तत्त्व के प्रमातृ वर्ग को मन्त्रेश्वर कहते हैं।

**मन्त्रमहेश्वर**—सदा शिव तत्त्व के प्रमातृ वर्ग को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं।

**माया**—माया शक्ति “अहम्” और “इदम्” को पृथक पृथक कर देती है अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति।

**माया प्रमाता**—जीव अथवा पशु प्रमाता।

**मायीय मल**—माया से युक्त मल जो कि जीव के स्थूल व सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कराने का हेतु है, अर्थात् वेद वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न समझना ही मायीय मल है।

**मुक्ति**—शिवत्वलाभ, आत्मानुभूति, विश्वोत्तीर्ण, परम शिव की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है, मुक्ति स्वात्म चेतनता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जीव को अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्र शक्ति से परमशिव के साथ जो एक भावाप्रकृति है। वही मुक्ति है।

**राग**—नित्य तृप्तित्व गुण के संकोच का कर्ता “राग” तत्त्व कहलाता है, जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है।

**रोधशक्ति**—परमेश्वर की यह वह शक्ति है, जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। यह पाशों में अधिष्ठित रहती है।

**वहिं**—वहिं का अभिप्राय अनुप्रवेश क्रम द्वारा संकोच भूमि है षष्ठवक्र का मूल स्थान ही वहिं है क्योंकि यह संकोच करता है। षष्ठवक्र (गुदाद्वार) या वहिं संकोच स्थान है।

**नोट**—वहिं और विष के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है।

**वामेश्वरी**—चिति स्वरूपा महाशक्ति भगवती “वामेश्वरी” नाम धारण करती है, क्योंकि यह संसार का वमन करती है। तथा संसार में विरुद्ध स्वरूप को प्रकट कर उसी के द्वारा अपने स्वरूप को आच्छादित कर लेती हैं।

**विकल्प**—जीव की भेदयुक्त-संकुचित भावना।

**विकल्पक्षय**—जीव का मन मायिक विचारों में निमग्न रहता है और दुख को प्राप्त होता है। विकल्पक्षय के अभ्यास का उद्देश्य है मन को क्षोभ से हटाना अथवा मानसिक विक्षिप्तता से मन को परे करना और आत्म-चिन्तन का अभ्यास करना।

**विज्ञानाकल**—विज्ञानाकल नाम वाले कर्तृत्व से रहित अर्थात् अहम् विमर्श रहित शुद्ध बोध स्वरूप प्रमाता लोग हैं यह जीव देह इन्द्रिय आदि से शून्य हैं। विज्ञानाकल प्रमाताओं में कर्म वासना नहीं रहती उन्होंने विवेक और ज्ञान के बल से यह अवस्था प्राप्त की होती है, माया तत्व से ऊपर और शुद्ध विद्या तत्व से नीचे कर्तृत्व से शून्य तथा शुद्ध बोधात्मा विज्ञानाकल है।

**विगलन**—शिथिल होना।

**विग्रह**—शरीर।

**विग्रही**—आत्मा।

**विद्या**—संकृचित सर्वज्ञत्व शक्ति।

**विमर्श**—विमर्श का अर्थ है, पूर्ण अकृत्रिम अहम् की स्फूर्ति, इसी की चित्, चैतन्य स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरता, सार, हृदय, स्पन्द, आदि अनेक संज्ञायें हैं। विमर्श शक्ति में निखिल प्रपञ्च विलीन रहता है, उसका आश्रय लिये बिना आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। परमेश्वर अपनी अधीन स्वकीय शक्ति को देखकर अपने स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। अन्यथा प्रकाश रूप परमेश्वर जड़वत् हैं। अथवा सुप्त हैं। प्रकाश व शिव, विमर्श व शक्ति के संयोग से ही विश्व का निर्माण होता है। अर्थात् यह दोनों विभिन्न हैं। विमर्श का स्वभाव फैलना है, प्रकाश का स्वभाव विश्राम है।

**विसर्ग**—विमर्श और विसर्ग एक रूप हैं।

**विश्वम्**—सदाशिव से लेकर पृथ्वी तत्त्वों का समूह।

**विश्वमयम्**—विश्व से पूर्ण।

**विषस्थान**—विष का अर्थ व्यापन—फैलाव—षष्ठवक्त्र का अन्त है। विषस्थान। विकासस्थान है जो षष्ठवक्त्र का अन्त है।

**व्युत्थान**—यह समाधि का विपर्यय शब्द है, समाधि की विपरीत दशा को ही व्युत्थान काल कहा है।

**शक्तिपात**—मलों को हटाने के लिये परमशिव की अनुग्रह शक्ति अनिवार्य है, इसके बिना मलों का क्षय नहीं हो सकता, इसे ही शक्तिपात कहते हैं। भगवत् अनुग्रह से ही जीव भवबन्धन से मुक्त होकर शिवत्व लाभ प्राप्त करता है। परम पद की प्राप्ति के लिये कोई उपाय नहीं केवल भगवत् शक्तिपात के द्वारा स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव हो जाता है।

**शक्ति संकोच**—शक्ति जब संकोच को धारण करती है, उसे शक्ति संकोच कहते हैं।

**शिव**—चैतन्यात्मक रूप का नाम है शिव।

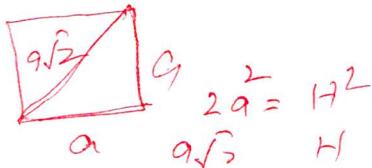
**शिवभट्टारक**—परम शिव।

**शुद्धाध्वा**—सात्त्विक जगत शुद्ध अध्वा का उपादान कारण है। शिवतत्त्व के अन्तर्गत जितने तत्त्व हैं उन्हें शुद्धाध्वा कहा गया है। वह पाँच हैं, शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या तत्त्व।

**शून्यप्रमाता**—शून्यप्रमाता वह प्रमाता हैं जो कि बिलकुल शून्य में ही पड़े होते हैं। जिन्हें अहम् और इदम् का कुछ भी भान नहीं रहता जैसे सुषुप्ति अवस्था में।

**शून्य भूमि**—वह स्थल जहाँ पर सब कुछ शून्य ही शून्य है।

**षटत्रिंशत्तत्त्व**—तन्त्रशास्त्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, ब्राण, (पंचज्ञानेन्द्रिय) वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पंचकर्मेन्द्रिय), शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध (पंचविषय), आकाश, वायु, वह्नि, सलिल तथा पृथकी।



**संविदभट्टारिका**—पर संविद, चिति अर्थात् पराशक्ति ।



**सकल**—सकल प्रकार के जीव कार्ममल, आणवमल और मायीयी मल से आवृत रहते हैं। यह मायाभूमि के प्रमाता हैं। यह जीव देह इन्द्रियों आदि से शून्य हैं। यह प्रलयाकल अवस्था अर्थात् माया के गर्भ में पड़े रहते हैं। इनमें कर्म वासना रहती है। इसलिये नूतन सृष्टि में वह प्रमाता फिर देह और इन्द्रियाँ प्राप्त करके उत्पन्न होते हैं।

**सदाशिवतत्त्व**—सदाशिवतत्त्व में ग्राह्य विश्व भेदाभेद रूप है, क्योंकि वहाँ इदन्ता किञ्चिन्मात्र उन्मेष को प्राप्त है और अहन्ता द्वारा आच्छादित है। यहाँ के प्रमातृवर्ग को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं। इनके अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव भट्टारक हैं।

**सदाशिवभट्टारक**—सदाशिव तत्त्व के अधिष्ठातृ देवता सदाशिव भट्टारक हैं।

**समावेश**—मन को क्षोभ से हटाकर, मानसिक विक्षिप्तता से मन को परे करके आत्म चिन्तन का अभ्यास करे। ऐसा अभ्यास चित् को विश्रान्त करने के लिये होता है। इसी अभ्यास के द्वारा समावेश दशा की प्राप्ति होती है।

**सिद्ध**—विश्वसिद्धि अर्थात् जगत् को प्रकट करना।

**स्थिति**—किसी पद में स्थिति हो जाना, अथवा ठीक दशा में रखना या रखे जाना।

**स्वातन्त्र्य**—स्वातन्त्र्य शक्ति अर्थात् चिति शक्ति।

ह—ह शब्द शक्ति का सूचक है।

**हठपाकक्रम**—हठपाक की विधि से अथवा अलंग्रास की युक्ति से, आग्रहपूर्वक बलात्कारेण वस्तुओं को चिदरूप ही कर लेना अथवा अपने से भिन्न नहीं रहने देना। हठपाक की विधि से अथवा अलंग्रास की युक्ति से चित् अग्नि से दग्ध किया जावें, तो अनुग्रह से युक्त योगी को आवरण के हट जाने पर पूर्णता का लाभ होता है।

Rudrakshi Razdan

## **BOOKS PUBLISHED BY ISHWAR ASHRAM TRUST**

### **Author Swami Lakshmanjoo**

#### **ENGLISH**

- Kashmir Shaivism -The Secret Supreme Indian Edition
- Shiv Sutras –The Supreme Awakening -Indian Edition
- Vijnana Bhairva –Manual for Self Realisation - Indian Edition
- The Mystery of Vibrationless- Vibration in Kashmir Shaivism
- Lectures on Principle and Discipline in Kashmir Shaivism( Hard Bound)
- Lectures on Principle and Discipline in Kashmir Shaivism( Soft Bound)
- Bhagvad Gita in the Light of Kashmir Shaivism Indian Edition (with Audio CD)
- Festival of Devotion & Praise -Shivastotravali by Utpaldeva Indian Edition (with Audio CD)
- Kundalani VijnanaRahaysam(New Edition)
- Badi Bod ( Short stories for children)

#### **(HINDI/SANSKRIT)**

- Abhinavagupta's Srimad Bhagvad Gita (Sanskrit)
- Sri SambPanchshika
- Shivastotravali (New Edition)
- Shivastotravali (Sloka's only)
- Trik Shastra Rahasya Prakriya (manuscript with Hindi translation)
- Panchastavi with Hindi translation(Hardbound)
- Panchastavi with Hindi translation(Soft Bound)
- Sri Kramanyapradipika (Hard Bound)
- Sri Kramanyapradipika (Soft Bound)
- Tantraloka (First Ahnika) manuscript with Hindi translation
- Stutichandrika (New Edition)
- Snan Sandyopasana Vidhi with Gurugita manuscript in Sanskrit

**₹ 250/-**